सूर : एक अध्ययन

लेखक

शिखरचन्द जैन, साहित्य-रत्न

•

नरेन्द्र-साहित्य-कुटीर
इन्दौर

: प्रकाशक :
रामगोपाल शर्मा, 'विशारद'
व्यवस्थापक
नरेन्द्र साहित्य-कुटीर
इन्दौर

प्रथम संस्करण
अगस्त, १९३८
मूल्य
बारह आने

: मुद्रक :
श्रीपतराय,
सरस्वती-प्रेस,
बनारस ।

स्वर्गीय नरेन्द्र

तेरी ही स्मृति के पवित्र अनुष्ठान मे

—शिखरचन्द

दूसरे की ओर से

.. मैं इन्दौर आया। मानसिक तथा आर्थिक संघर्षों के वे दिन! इतनी बड़ी नगरी में एकाकी। तभी किसी ने बतलाया शिखरचन्दजी मास्टर। कैसे हम मिल गये, आज इतने दिन बाद मैं नहीं बतला सकता।

मास्टर मेरे इतने निकट हैं कि उनके बारे में मेरी कोई भी राय पक्षपात पूर्ण समझी जा सकती है। भावुक, दीन दुनिया से बेखबर, Inferiority complex और उपेक्षित ; कहीं गहरे तल में सेवा और साधना की आग: यह है मास्टर का विश्लेषण। मैंने देखा, इस आदमी ने बहुत खोया है और इसे सदा वंचित रहना पड़ा है। चलते-चलते वह रुक गया है ; सोचने लगा—अरे मैं रुक क्यों गया? और फिर चल पड़ा है। बाधाएँ ही इसे सदा मिलीं। कभी थक गया, कभी निराश हो गया और कभी न जाने कहाँ से कोई सम्बल पा बढ़ चला है।...

इस निबन्ध का भी हाल बहुत कुछ लेखक जैसा ही है। आज से सात-आठ बरस पहले यह लिखा गया था। तभी पढ़ा गया, सुना गया, देखा गया और प्रशंसित भी हुआ। सम्मेलन परीक्षाओं के विद्यार्थी इससे लाभ उठाते रहे, काश निबन्ध बोल सकता बतलाता कि कितना उपेक्षित उसे होना पड़ा है। कभी सुना-प्रकाशित होने जा रहा है, और यह कहीं छिपकर खोकर ऐसा बैठा कि बैठ ही गया।

आज यह छपकर प्रकाशित हो रहा है। निर्णय पाठकों पर निर्भर है। इतना तो मैं कहूँगा ही कि सम्मेलन-परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए यह उपयोगी होगा।

काशी
भीगा सावन '९५

श्यामू सन्यासी

सूर : एक अध्ययन

मुस्लिम आक्रमण को हिन्दी का बीज-वपन एवं पृथ्वीराज के पतन को हिन्दी के विकास का प्रारम्भ हम साधारणतया मान सकते हैं। क्योंकि सातवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे सिन्ध पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगते हैं। लगभग इसी समय पुष्य अथवा पुंड्र नामक किसी कवि का होना पाया जाता है तथा पृथ्वीराज के पतन पर महाकवि चन्दवरदाई इसी समय 'पृथ्वीराज रासो' लिखना आरम्भ करते हैं। यों चाहे हिंदी-भाषा का प्रारम्भ सातवी शताब्दी के बजाय ग्यारहवी से माना जाय; किन्तु यह मानने मे कोई हानि नहीं है कि हिन्दी का बीज-वपन अवश्य सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हो चुका था। हिन्दी-भाषा की वह गर्भावस्था थी। उस समय काल के गर्भ मे ही उसके अंग-प्रत्यंग पुष्ट हो रहे थे। गर्भावस्था में किसी शिशु की रूप-रेखा नहीं देखी जा सकती। केवल अनुमान, अनुभव और ज्ञान द्वारा ही उसका परिचय

हिन्दी-भाषा का बीज-वपन-काल

प्राप्त किया जा सकता है। किसी भी भाषा के लिए कोई भी ऐसा निश्चित समय निर्धारित नहीं किया जा सकता, जहाँ से उसका प्रारम्भ माना जा सके। किसी एक पूर्व भाषा का रूप विकृत होता जाता है और नयी भाषा की रूप-रेखा उसी विकृतावस्था में से उद्भवित होती जाती है। शनैः-शनैः एक धारा के समान जब वह पार्वतीय विषम मार्ग समाप्त कर चुकती है, तब मैदान पर उसका उद्गम स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। अतएव सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को हिन्दी का बीज वपन-काल मानना अनुचित नहीं है और ग्यारहवीं शताब्दी से हिन्दी-भाषा के विकास का प्रारम्भ मानना तो निश्चित ही है।

मु० के पहिले की राजनैतिक अवस्था

हर्षवर्धन ही अन्तिम हिन्दू सम्राट् अथवा चक्रवर्ती महाराजा थे जिनका आधिपत्य समस्त उत्तरापथ पर था। उनके निधन से समस्त भारत में एक प्रकार की अराजकता फैल गई। उनके पश्चात कोई भी सार्वभौमिक हिन्दू सम्राट् न हुआ। महमूद गज़नवी के आक्रमण के पहिले केवल राजपूत राजागण ही छिन्न-भिन्न रूप में उत्तर भारत का राज्य संचालन कर रहे थे। उनमें भी फूट पूर्ण-रूप से व्याप्त थी। वे छोटे-छोटे राज्यों में ही नहीं बँटे थे, किन्तु पारस्परिक कलह ही में अपना गौरव समझते थे। अपने पूर्वजों के समान न तो उनमें धार्मिक भाव ही प्रधान था और न राजनीति ही में उनकी कुछ विशेष गति थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस समय के ये राजागण राजनीति के मूल तत्वों एवं व्यावहारिक राजनीति की चालों से ही पूर्ण अनभिज्ञ न थे, प्रत्युत ये राजनीति के क, ख, ग को भी भुला चुके थे। वे अपना एक-मात्र धर्म केवल समय-समय पर—जैसे कन्या-हरण, विवाह, शरणागत-रक्षा आदि के अवसरों पर—शौर्य-प्रदर्शन ही समझते थे। इसका फल यह हुआ कि जहाँ उनमें आत्मबल, शक्ति, त्याग एवं प्राण-समर्पण

की भावनाओं की प्रबलता होनी चाहिये थी, वहाँ संगठन के अभाव, दुराग्रह, अपनी राजनैतिक चालों एवं कूटनीति की अनभिज्ञता के कारण वे पारस्परिक कलह मे दत्तचित्त हो अपनी शक्तियों को शनैः-शनैः क्षीण कर रहे थे। परिणामतः जो हिन्दू जाति हूण, कुशन सदृश बर्बर जातियों को आत्मसात् कर सकी, वह क्षणिक धार्मिक आवेश से मदोन्मत्त मुस्लिम आक्रमणकारियों का सामना करने मे असमर्थ रही। जीवन का इस समय नितान्त अभाव हो रहा था। नारियों ने जौहर मे प्राण विसर्जनकर अपने गौरव की रक्षा की पर वे पुरुषों की सूखी नसों मे उष्ण रक्त प्रवाहित न कर सकी ; क्योंकि उन्हें मुक्ति-मार्ग का कंटक समझा जाता रहा था और वे स्वय भी अपनी सत्ता का अनुभव नहीं कर सकती थी। तात्कालीन जनता मे कूप-मंडूकता की भी कमी नही थी। ऋषि-मुनियों के देश मे अज्ञानांधकार का साम्राज्य था। इस समय तक भारतीयों ने अपनी विस्तृत चारदीवारी के बाहर जाना कम कर दिया था और फलतः उनमे जो जीवन से युद्ध करने की, अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं ज्ञान दान देने की क्षमता थी, उसका ह्रास हो गया था। इन्ही कारणों से इस्लाम के धर्मान्ध कट्टर अनुयायी भारतीयों को सरलता-पूर्वक पदाक्रान्त कर सके। तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि इस नैराश्य-पूर्ण समय में भी कही-कही आशा की किरण दिखाई पड जाती थी। अन्धकार मे भी क्षीण प्रकाश मार्ग प्रशस्त करता रहा और इसी आधार पर हिन्दू-जाति, संस्कृति एवं साहित्य की रक्षा हो सकी।

इस समय जनता के दुःख-सुख का किसी को ध्यान नहीं था। दुधारी गाय के समान उसे जो शासक चाहता दुह लेता। फिर इस समय मुसलमान शासक यहाँ पर नये-नये ही आये थे। न तो वे यहाँ की आंतरिक परिस्थिति से परिचित थे और न युद्धादि से उन्हें इतना

अवकाश ही था कि वे उस पर ध्यान ही दे सकते। जगह-जगह कुशासन फैला हुआ था। मुस्लिम आक्रमणकारियों से सुदूर के प्रांत अवश्य कुछ काल तक रक्षित रहे। दक्षिण कुछ समय तक उनकी पहुँच के बाहर रहा; पर अलाउद्दीन के समय से उस पर भी आक्रमण किये जाने लगे। सम्राट हर्ष के निधन से भारत की जो दशा बिगड़ी, वह मुस्लिम आगमन से भी नहीं सुधरी, प्रत्युत उत्तरोत्तर अधिकाधिक बिगड़ती ही गई। मुसलमानों के आक्रमण से पहिले भारतीय राजा तथा प्रजा में साहस, ओज, आत्मबलिदान की भावनाएँ, शक्ति, युद्ध-प्रियता और महत्वाकांक्षाएँ थीं। प्राचीन गौरव के पुनरुद्धार की उत्कट अभिलाषाएँ थी। किन्तु मुस्लिम राज्य-स्थापन के पश्चात् तो ये सद्गुण एक-एक करके काफूर हो गये। पहिले तो ये जातीय गुण थे, बाद में केवल वैयक्तिक सद्गुण ही रह गये। भारत में राष्ट्र थे, किन्तु प्राण नहीं, जीवन नहीं। मुहम्मदगोरी की विजय के समय पृथ्वीराज ही एक अकेला वीर नहीं था, अकबर की राजस्थान-विजय के समय केवल प्रताप ही एक वीर नहीं था। वीरता थी; जातीयता और विजय-कामना नहीं, वैराग्य था। आत्मबल का अभाव था। धीरे-धीरे निराशा अपना घर बनाती गई; राजाओं ने गुलामी ही को अपना मुक्तिमार्ग समझा।

उधर जनता-जनार्दन भी शक्तिहीन हो चली। उनमें से भगवद्दंश उड़ गया था। उन पर भी मुस्लिम आगमन का प्रभाव पड़े बिना न रहा। ग्राम-पंचायतों का सुख भोगनेवाली सीमित एकतंत्री शासन (Limited monarchy) को स्थापित करनेवाली वीर जाति की कोई बात पूछनेवाला भी न था। वो जाति, जो ब्राह्मण विद्वान् राजनीतिज्ञ चेष्टा को पदच्युत कर सके, वे मुस्लिम शासन की जड़ हिलाने में असमर्थ रहे। इसमें जितना दोष मुस्लिम आक्रमणकारियों का है, उतना ही भारतीयों की निर्बलता का भी। वे क्यों नतमस्तक हो गये? क्यों

पराधीनता का जुआ अपने कंधों पर धारण कर लिया? अत्याचारी ने अत्याचार किया तो उस अत्याचार को सहा क्यों? सामूहिक रूप से क्यों अपने अधिकारों के लिए नहीं लड़े? ऐसी भीषण परिस्थिति में हिन्दी का विकास प्रारम्भ और प्रभावित हुआ।

ब्राह्मण विद्वान, त्यागशील, मनस्वी एवं चिन्तनशील अवश्य थे, किन्तु उनमें उद्धतपन, आत्मगौरव-प्रवञ्चना, अत्यन्त हिंसावादिता, कटुता, कर्मकाण्डता, एवं अपनी समझ में किसी को कुछ न समझना, आदि दुर्गुण भी थे। बौद्धधर्म के उद्भव का यही कारण था। सम्राट हर्ष के निधन तक बौद्ध धर्म चढ़कर गिर चुका था और अपनी अन्तिम साँसे ले रहा था। महात्मा बुद्ध के सिद्धान्त अति उच्च थे। उनका व्यक्तित्व महान था। वह व्यवहार्य भी था, किन्तु उसके अन्तिम काल में उसके सूत्र विद्वानों के हाथों में नहीं रहे थे। उनमें तपस्या ही का भाव अधिक रह गया था। बौद्ध भिक्षु साधारणतया ज्ञान प्राप्त कर कुछ बौद्ध धर्म का अध्ययन कर ही अपने को बड़ा समझने लगे थे जैसा कि आजकल के साधुओं में देखा जाता है। इसका साधारण जन-समाज पर इसी लिए प्रभाव भी खूब पड़ा, किन्तु साधारण जन-समुदाय राम-कृष्ण को नहीं भूला था और जब फिर से ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा हुई जनता उस ओर झुकी। बौद्ध धर्म के अनीश्वरवाद के सिद्धान्तों को भी प्रश्रय मिल गया था; किन्तु जनता का आधार उसकी रक्षा करनेवाला, उसे सुख-दुख देनेवाला, और दुःख में धैर्य बँधानेवाला केवल ईश्वरवाद का सिद्धान्त ही है। चाहे हम ईश्वर का अस्तित्व न माने, वह केवल कोरी कल्पना ही क्यों न हो, किन्तु साधारण जनता विद्वान नहीं होती, उतनी ज्ञान-सम्पन्न भी नहीं हो सकती, अतएव उसके हृदय में सद्गुणों और साहस को प्रतिष्ठित करने के लिए ईश्वर का मानना अत्यन्त आवश्यक है। फिर

सूर के पहिले की धार्मिक परिस्थिति

तात्कालिक ब्राह्मण विद्वानों ने बुद्ध को भी एक अवतार मानकर हिन्दू धर्म में मिला लिया। बौद्धों के समान अत्युक्ति-पूर्ण पुराणों की रचना कर डाली। जनता को और क्या चाहिये था? महात्मा बुद्ध में पूज्य भाव होते हुए भी हिन्दू-धर्म का पालन किया जा सकता था। इधर कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के तर्कों के सामने बौद्ध धर्म न ठहर सका। केवल विदेशों में ही उसे आश्रय मिल सका, क्योंकि उसके सिद्धान्त विदेशियों को नवीन मालूम हुए। भारत तो इन सिद्धान्तों को भली भाँति हृदयंगम कर चुका था और उन्हें चरम सीमा तक पहुंचा भी चुका था।

ब्राह्मण विद्वान ईश्वर के अस्तित्व व वेदों में ईश्वरीय ज्ञान के न माने जाने से बहुत दुःखी थे। अतएव कुमारिल भट्ट ने 'वेदों में ईश्वरीय ज्ञान है' का उपदेश दिया। उसने यज्ञ में हिंसा करना उचित ठहराया और इस प्रकार प्राचीन बातों का फिर से प्रचार किया, किन्तु जनता इसके लिए तैयार न थी और इसलिए उसके विचारों का स्वागत कुछ अधिक न हो सका। उस समय जनता शंकर को चाहती थी, उनके सिद्धान्तों को चाहती थी। अतएव उसने शंकर को उत्पन्न किया। कुमारिल भट्ट ने शंकर का कुछ मार्ग परिष्कृत कर ही दिया था। शंकर सन् ७८८ ई० में—कुमारिल भट्ट के कुछ बाद ही—पैदा हुए थे। शंकर ने पूर्ण अद्वैतवाद के सिद्धान्त का, जो वेदोक्त था एवं बौद्ध मतावलम्बियों को भी अमान्य न था प्रचार किया। इसी लिए वे प्रच्छन्न बौद्ध कहलाये। उन्होंने आत्मा और परमात्मा को एक ही माना। उनका कहना था कि यह जगत मिथ्या है। इस तरह उनके सिद्धान्तों का बौद्ध धर्म से भी कुछ साम्य था। वे ब्रह्म और वेदों को अमर मानते हैं। इसी समय बौद्ध के २४ बुद्धों, जैनों के २४ तीर्थंकरों के समान २४ अवतारों की भी कल्पना कर साम्य स्थापित कर लिया गया।

इसके पश्चात् दो-तीन शताब्दियों तक इन विचारों का प्राबल्य रहा और समस्त भारत मे शंकर के अद्वैतवाद की प्रधानता रही। बारहवी शताब्दी मे फिर रामानुज ने विशिष्टाद्वैत एवं मध्वाचार्य ने द्वैत-वाद का प्रचार किया। रामानुज जीवात्मा, जगत और ब्रह्म को एक ही मानते है। जीवात्मा और जगत ब्रह्म से ही निकले है, किंतु पृथक होकर, विशिष्ट गुणों से समन्वित होकर ये कार्य-रूप मे पृथक-पृथक परिणत होते है। मध्वाचार्य जीव, प्रकृति और ईश्वर को भिन्न-भिन्न मानते है।

इस समय तक मुसलमानों का न तो राजनीतिक और न धार्मिक ही कोई प्रभाव पडा था। किन्तु इसके पश्चात् भारतीय साहित्य, कला, संस्कृति एवं धर्म पर उनका प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगा। मुसलमान लोग एकेश्वरवादी थे। उनमे सब बाते एक ही थी। एक खुदा; खुदा का एक पुत्र; मुसलमान मुसलमान सब एक। शांति और विग्रह मे सब समय एकता उनकी नीति, न्याय और धर्म्म था। उनमे न कोई जाति थी, न कोई पंथ। प्रारम्भ मे जबकि वे आये तब कोई दूसरा भाव था। धीरे-धीरे वह भाव बदलने लगा। अब सम्पत्ति-हरण कर अपने देश को लौट जाने का भाव न था। इस समय तक वे अग-णित हिन्दुओं को इस्लाम के झण्डे के नीचे ला चुके थे। कई हिन्दू-स्त्रियो से विवाह कर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने लगे। एक दूसरा आपस मे मिलने लगा। लडाई-झगडे का भाव धीरे-धीरे नष्ट होने लगा। उन्हे अब यह अनुभव होने लगा कि जब हमे यहीं स्थायी रूप से रहना है, तब हिन्दुओ से मेल किये बिना सुख और आनंद की प्राप्ति नही हो सकती। इधर हिन्दू लोग अभी तक उन्हे लुटेरे और विदेशी समझते थे; परन्तु उन्हें यहाँ बसते देख विरोध करना छोड दिया। फिर भी उनकी प्रकृति, उनका धर्म, उनका आचार-विचार अभी तक नहीं मिला था। दोनो जातियाँ शान्ति और सुख-पूर्वक रहें इसलिए इस बात

की आवश्यकता थी कि दोनों का मेल-जोल बढ़े। दोनों आपस में एक दूसरे के सहायक न हों तो न सही, पर कम से कम विरोधक तो न बनें। उधर मुसलमान हिंसावादी थे, और इधर हिन्दू अहिंसाप्रिय। उनको अपनी शक्ति, सत्ता और कूटनीति पर विश्वास था, तो इनको अपने पूर्व गौरव, संस्कृति, उच्च विचार एवं सिद्धान्तों और दर्शन का अभिमान था। राजा और प्रजा चाहे न मिल पावें, पर प्रजा-प्रजा कैसे बिना मिले रह सकती है। ऐसे समय में सत्कवियों एवं महात्माओं ने अमृत-वाणी की वर्षा कर अपने सदुपदेशों से भारत को ऐसा आप्लावित किया और ऐसा अमर प्रभाव उत्पन्न किया कि आज तक उसी की गूंज हमारे हृदयों में गूंज रही है।

रामानुज स्वामी ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय स्थापित करके जो बीज बोया था, स्वामी रामानन्द ने उसे अपनी उदारता, नम्रता एवं विद्वत्ता से इतना अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित किया कि उनके पश्चात् कबीर, नानक, दादू, रैदास, भीका साहब आदि अनेक महात्मा हुए। इन सब में कबीर का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। बाद के महात्माओं में से अधिकांश ने उन्हीं का अनुकरण किया। कुछ थोड़े-थोड़े परिवर्तन के पश्चात् इन्हीं की शिक्षा, उपदेश और सिद्धान्तों को ग्रहण किया। इन सब सन्त कवियों में जो सूर के पहिले एवं कबीर के पश्चात् हुए, कबीर की ही छाप अंकित दिखाई देती है। यद्यपि देश के कोने-कोने से इन महात्माओं का उद्भव हुआ। कबीर साहब के पहिले, जैसा हम पहिले देख आये हैं, हिन्दू-जाति निराशा के गर्त में पूर्ण-रूप से जा चुकी थी। उनमें शारीरिक शक्ति का किसी प्रकार अभाव नहीं था। उनमें व्यक्तिगत साहस था। भिन्न-भिन्न रूप से उनके प्रयत्न भी विदेशी आक्रमकों को देश से बाहर करने के लिए हुए। फिर भी वे अपनी आँखों के सामने अपने धर्म का—जिसे हिन्दू-जाति क्या प्रत्येक जाति प्राणों से प्यारा

समझती है—अपनी पूज्य मूर्तियों का अपमान देखते थे तो उन्हे अपने ऊपर बडी ग्लानि होती थी। ऐसे नैराश्य-पूर्ण एवं आत्म-विस्मृति के समय कबीर आदि महात्माओं ने निर्गुण भक्ति का संदेश भारत को देकर भारत का बडा उपकार किया है। यह सत्य है कि निर्गुण ब्रह्म इंद्रियातीत है, पर उसका अस्तित्व मानना ही मुर्दा जाति को जीवनदान देना था। कबीर में बडी उच्चकोटि की प्रतिभा थी यद्यपि वे पढ़े-लिखे न थे। उनमे सहृदयता थी, चाहे वह शुद्ध साहित्यिक न रही हो। उनमे उच्चकोटि की लगन, जाति-हित-प्रेरणा, मानव-प्राणी-मात्र की भलाई की कामना थी, चाहे उनके शब्दों के ओज एवं तीव्रता में हमें कुछ कटुता मिले। वे वेद-उपनिषद् नही पढ सकते थे। वे वेदांगों में पारंगत विद्वान नही थे। उन्होंने सांख्य-मीमांसा के ग्रन्थ नही देखे थे, किन्तु इनके तत्त्वों एवं सिद्धांतों से वे अनभिज्ञ नही थे। उन्होंने बडे-बड़े विद्वानों, साधु-महात्माओं का संसर्ग किया था। वे बहुश्रुत थे। सत्य ही उनका व्यवसाय था। सुकार्य ही उनका भोजन था। कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों दोनो ही के दोषों का उद्घाटन किया है। उन्होंने रचनात्मक नही, प्रत्युत खंडनात्मक मार्ग ग्रहण किया था। रचनात्मक कार्य तो आगे जाकर सूफी कवियों जायसी, सूर और तुलसी द्वारा होनेवाला था और हुआ। प्रारम्भ में खण्डनात्मक कार्य ही शुरू किया जाता है। जब हम किसी पुरानी इमारत के स्थान पर कोई नवीन भवन का निर्माण करते है, तब हमें पहले उस पुरानी इमारत को नष्ट करना ही पड़ता है। कबीर के पहिले हिन्दू-समाज का भवन जो हजारों वर्ष का पुराना हो गया था, वह समय-समय पर कुछ स्तम्भ लगा, कुछ बल्लियाँ लगा, सुधारकर या कई प्रकार के टेके लगाकर रहने योग्य बना लिया गया था। हिन्दू-समाज की दशा उस समय भिखारी की गुदडी के समान थी। ऐसी अवस्था मे कबीर के जैसी आत्मा ऐसे भवन में रहना स्वीकार कैसे कर सकती थी? उसने उस प्राचीन भवन को जितनी शीघ्रता से

हो सके, गिराना आरम्भ किया। वह कभी पूर्व की दीवाल गिराती, कभी पश्चिम की। कबीर ने हिन्दू-मुसलमान दोनो के बाह्य आडम्बर की तीव्र निन्दा की थी। मुसलमानों के रोज़ा, नमाज़ आदि की एवं हिन्दुओं के जप, तप, माला आदि की। उन्होंने केवल आंतरिक सत्य ज्ञान की ही प्रधानता बतलाई। इनकी इस कटुता के परिहार का थोड़ा प्रयत्न प्रेम-मार्गी सूफी कवियों ने किया; किन्तु हिन्दू-समाज पर उनका इतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना कबीर आदि संत कवियों का। यद्यपि संत कवियों से प्रेम-मार्गी सूफी कवियों में साहित्यिकता अधिक है। इस प्रकार कबीर ने अपने खरे-तीखे उपदेशों से सूर और तुलसी के सगुण भक्ति के मार्ग की काट-छाँट कर उसे परिष्कृत कर दिया। यद्यपि प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिए सब बातें अलौकिक रहती हैं, तथापि यह कहना ही पड़ेगा कि कबीर की प्रतिभा के आधार से उठकर वह सगुणोपासना चरम कोटि (Climax) पर पहुँचा दी गई, जहाँ से कि हिन्दी-साहित्य का उतार प्रारम्भ हुआ। हाँ, यह अवश्य था कि अपने-अपने समय में एवं अपने-अपने क्षेत्र में सूर और तुलसी की प्रतिभाएँ उच्चतम थीं।

सूर से पहिले हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास

खेत में जब बीज बोया जाता है, तब तत्काल ही उसके अंकुर नहीं निकल आते हैं। वह भूमि के अन्दर रचता-पचता है और एक समय तक हमें दिखाई नहीं देता है। उसी प्रकार हिन्दी-भाषा का बीजारोपण सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो गया था, किन्तु तीन-चार शताब्दी तक हमें उसका कुछ रूप दिखाई नहीं दिया। पर आरम्भ में वर्षा हो जाने के पश्चात् जैसे उसके अस्पष्ट अंकुर दिखाई देते हैं, उसी प्रकार बारहवीं शताब्दी में हिन्दी-भाषा के स्पष्ट अंकुर हमें दुये पंचोली जानकी-दास एवं दुये पंचोली मंदसराय के परवानों में दिखाई देते हैं।

इन परवानों के देखने से ज्ञात होता है कि प्रथम डिंगल एवं द्वितीय पिंगल भाषा में लिखा गया है। ये करीब-करीब एक ही समय के हैं। अतएव ज्ञात होता है कि भाषा के दोनो प्रकारों का विकास करीब-करीब साथ ही हुआ। एक बात पर ध्यान जाता है, वह यह कि प्रथम मे पूर्ण विरामादि चिन्ह नहीं और द्वितीय मे है। इससे प्रथम राजस्थान की ओर बोली जानेवाली बोली या असाहित्यिक भाषा है व द्वितीय उस समय की शुद्ध साहित्यिक भाषा। महाकवि चन्द ने इसी द्वितीय भाषा में अपना महाकाव्य रचा। चन्द केवल राजाओं के गुणगान करनेवाला भाट नहीं था। वह साहित्यिज्ञ और वीर भी था। उसकी भाषा मे कितने ही दोष कोई क्यों न निकाले, किन्तु यह कहने के लिए हमें बाध्य होना ही पडता है कि उस काल का वह सर्वश्रेष्ट साहित्यिक एवं परमोत्तम रचनाकार है। उसकी रचनाएँ यह बताती है कि हिन्दी-भाषा का विकास उसके समय तक कितना हो गया था। यह तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि युद्ध-वर्णन जिस विस्तार के साथ, सर्वाङ्ग पूर्ण उसने किया, वैसा आज तक कोई कवि नहीं कर सका। इसका कारण स्पष्ट है। उसने युद्ध देखे ही न थे; युद्ध लड़े थे। अतएव युद्ध-वर्णन के वह सर्वथा योग्य है। भाषा के विकास को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि चंद के समय मे भाषा अपना अपभ्रंश का परिधान उतारकर नवीन वस्त्र धारण कर रही थी। उसके काव्य का कुछ अंश प्राकृत से एवं कुछ अंश सूर के समय की हिन्दी से मिलता है। संभव है यह पीछे से जोडा हुआ अंश हो। किन्तु इस समय तक हिन्दी-भाषा मे वह माधुरी नहीं आई थी, जिसका एक-मात्र श्रेय सूर और तुलसी को है जैसा कि कुछ समय पहिले खडी बोली के लिए कहा जाता था। इसलिए उस समय के कई संस्कृतज्ञ विद्वान् कदाचित् भाषा मे काव्य-रचना करने में अपना गौरव नहीं समझते थे। गौरव समझना तो दूर, वे इसमे अपनी अल्पज्ञता समझते जैसा कि खड़ी बोली के संबंध

में अंग्रेज़ी भाषा के विद्वानों के विचार थे। बिल्कुल यही परिस्थिति उस समय थी।

अमीर खुसरो की रचना यद्यपि गद्य का विकास बताती है, तथापि वैसी भाषा मुस्लिम-प्रभाव-गत उत्तरी प्रांत विशेषकर मेरठ के आस-पास ही अवश्य बोली जाती रही थी, पर वह उस समय तक व्यापक नहीं हुई थी।

इसके पश्चात्, अब कुछ विहारी भाषा के सम्पुट के साथ विद्यापति की सरस लहरी में हिन्दी-साहित्य गोते लगाने लगता है। यहाँ एक दूसरी ही छटा देखने को मिलती है। इनकी भाषा यद्यपि भाषा के विकास का समुचित रूप प्रदर्शित नहीं करती है, क्योंकि इनकी भाषा मैथिल है जिस पर हिन्दी से अधिक साम्य होते हुए भी बंगला का भी प्रभाव लक्षित होता है—भाषा पर ही नहीं, साहित्य, कहने का ढंग (शैली नहीं), विचारणा एवं मधुरता पर भी।

कबीर की भाषा साहित्यिक नहीं और न इन्होंने उसे साहित्यिक बनाने का प्रयत्न ही किया है। वे तो जब चाहते या जो भाव उनके हृदय में आते, उन्हें खरी, सीधी, सच्ची, बिना अच्छे-बुरे का ख्याल किये कह डालते। भला उन्हें भाव के आगे भाषा की क्या ज़रूरत थी? निर्गुण के आगे सगुण की उपासना से उन्हें क्या मतलब था? निर्गुण केवल ज्ञान और भाव पर अवलंबित है। सगुण भावुकता, सरसता पर। इसी का प्रभाव उनकी भाषा पर भी पड़ा है। फिर उनके समय में तो भाषा-रूपी झरना सुविस्तृत सरिता नहीं बना था। अभी-अभी तो उसने पार्वतीय भाग छोड़ा ही था और मैदान में आया था। कबीर ने भी उसे स्वतन्त्रता-पूर्वक बहने दिया। उसके प्रवाह को रोका नहीं। उसके किनारे घाट बाँध उसे मनोरम बनाने की चेष्टा नहीं की। इसी-लिए यहाँ भाषा का झरना बहुत तेज़ बहता है। पर्वत से बहती आई

पाषाण-शिलाओं के खण्ड अभी तक उसमें दिखाई दे रहे हैं। और कबीर तो उपदेशक थे, साहित्यिक नही। तात्कालीन भिन्न-भिन्न स्थानो पर बोली जानेवाली प्रचलित भाषा मे ही उन्होंने अपने उद्गार प्रकट किये हैं। अतएव उनकी भाषा में हम हिन्दी-भाषा के विकास के चिह्न पाते है और यह देखते है कि अब उसने अपना अपभ्रश का चोला बिलकुल उतार दिया। वह कुछ प्रौढ हो चली थी, शरीरांगों की दृष्टि से, वय की दृष्टि से नही ; पर थी अभी वह अल्हड़ बालिका ही। ऐसी अवस्था में कबीर से शुद्ध साहित्यिक भाषा की आशा रखना व्यर्थ है। पर स्थान-स्थान पर उसके अंगों से भाषा मे ओज-रूपी दीप्ति की प्रभा फूट-फूटकर निकल रही है।

हिन्दी-भाषा के समान हिन्दी साहित्य भी अभी तक पूर्ण विकसित अवस्था तक नही पहुँचा था। सातवी शताब्दी मे जिस अलंकार ग्रन्थ का होना बताया जाता है उसका अवतरण अंश भी अप्राप्य है। दो-तीन सौ वर्षों तक, उस समय, प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रश भाषा के साहित्यों का ही प्राबल्य रहा। बाद में ग्यारहवी शताब्दी मे तात्कालीन वीरों पर अवश्य प्रचुर साहित्य मिलता है। जैसे विजयपाल रासो, नरपति नाल्ह का वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो आदि जिनमे श्रृंगारिक भावों का अवलम्बन कर वीरों की यश-गाथा गाई गई है। वह समय ही ऐसा था जब कि वीर-रस-समन्वित काव्य की आवश्यकता थी और इस साहित्य ने बहुत कुछ अन्शों मे उसकी पूर्ति की भी। श्रृंगार का जो पुट इस साहित्य मे दिया गया, वह भी तात्कालीन श्रृंगारिक मनोवृत्ति का ही परिचायक है कि उस समय के वीर भी श्रृंगारिक प्रवृत्ति को एक ओर रख या केवल देशभक्ति की भावनाओं से वीरता-प्रदर्शन नही किया करते थे।

इसके कुछ समय पश्चात् ही विद्यापति की सरस लहरी और

कबीर की प्रबल धारा में हिन्दी-साहित्य लहराता रहा। विद्यापति ने जो माधुर्य, जो सरसता, जो कोमल कान्त शब्द-रचना का प्रवाह बहाया, वह अप्रतिम है। पर उनकी रचनाओं में संस्कृत और बिहारी भाषाओं का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है। इसलिए उनके साहित्य के प्रभाव की धारा पश्चिम की ओर न आकर पूर्व की ओर जा निकली और उसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर कम और बंग-साहित्य पर अधिक पड़ा। पर यह तो कहना ही पड़ेगा कि सूर पर विद्यापति के साहित्य का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। सूर चाहे विद्यापति या उनके काव्य से परिचित न रहे हों, पर यह अवश्य था कि अप्रत्यक्ष रूप से विद्यापति की भावनाएँ सूर के हृदयाकाश में मँडरा रही थीं। विद्यापति की अश्लीलता, संस्कृत-कवियों की परम्परा से आई और इसी से सूर को भी इतना साहस हो सका कि राधा-कृष्ण के अश्लील प्रेम को भी वे अपने भक्ति-प्रवाह में बहा ले जा सकें। अतएव सूर-साहित्य के अध्ययन के पहिले विद्यापति का अध्ययन भी एक आवश्यक बात हो जाती है।

जिस प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से विद्यापति के साहित्य ने कोमलता, सरसता, माधुर्य, संयोग शृंगार से ओत-प्रोत भावनाएँ, सजीव वर्णन दिये, उसी प्रकार कबीर ने भी सूर-साहित्य को ओज, निर्भीकता, साहस, उद्दण्डता, कुछ-कुछ अंशों में छिछलापन और सत्य कथन देने में कमी नहीं की। क्योंकि कबीर के साहित्य में इन्हीं गुणों की प्रचुरता पाई जाती है। कबीर के साहित्य का प्रचार भी साधारण जनता में काफ़ी हो चुका था। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति के साहित्य ने सूर की आत्मा बनाई तो कबीर ने शरीर, किन्तु पृथक्-पृथक्। सूर ने, जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, इन दोनों का सम्मिलन करने में अपनी प्रतिभा का कमाल दिखाया पर साथ ही उनके कुछ दोष भी उनमें आ गये, जो उन्होंने तुलसी के सुधार के लिए छोड़ दिये।

सूर-साहित्य सागर अगम है। उसकी थाह लेना कठिन है; किन्तु कुछ आधार, कुछ लौह स्तम्भ ऐसे हैं या उन आधारों की लोह-जंजीर ऐसी है जिसके सहारे हम कुछ समय तक उसमें स्नान कर आनन्द उठा सकते है। राजनैतिक अवस्था, धार्मिक परिस्थिति एवं हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास रूपी तीन आधारों के द्वारा हम उस सागर के किनारे पहुँच चुके हैं, किन्तु अब उसमें स्नान तब तक नही कर सकते जब तक हम (१) विष्णु, वैष्णव धर्म एवं वल्लभाचार्य (२) संगीत (३) एवं भक्ति-रूपी तीन आधारों का सहारा और न ले लें। नीचे हम इन्हीं तीन विषयों पर विवेचन कर सूर-साहित्य मे प्रवेश करेंगे। इन पर विवेचन किये बिना सूर-साहित्य को समझना बडा कठिन है क्योंकि इनका और सूर-साहित्य के परिचय का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

विष्णु, वैष्णव धर्म तथा उसके सिद्धांत

वैदिक साहित्य में जितना उल्लेख हमे शिव पर मिलता है, उतना विष्णु पर नहीं। इससे ज्ञात होता है कि उस समय शिव का विष्णु से कहीं अधिक महत्त्व था। कही-कहीं तो विष्णु शिव के विरोधी शक्ति-से दिखाई देते हैं। पर प्रारम्भ में विष्णु सूर्य के अवतार माने गये हैं और इनका महत्त्व किसी भी अन्य देव से कम नहीं समझा गया हैं। संहिताओं मे विष्णु का विशेष और कई वार उल्लेख आया है। संहिताओ के समय मे विष्णु का महत्त्व बढ गया था और शिवादि अन्य ईशों से भी अधिक उनका सम्मान था। वे विश्व के एक-मात्र अधीश्वर सृष्टि-कर्ता माने जाते थे। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि विष्णु और शिव के पूजको में जिस प्रकार सूर के समय और उसके भी कुछ पहले कलह और विवाद था वही, उसी प्रकार का कलह और विवाद वैदिक काल में भी रहा होगा। इसी लिए कभी हमें अन्य ग्रन्थों मे भी, शिव का महत्त्व और माहात्म्य अधिक मिलता है और कभी विष्णु का। इससे जनता

की तात्कालिक मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। इसके पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों में अवतार विषयक विचार स्पष्ट नहीं ज्ञात होते। कदाचित् उस समय उनके अवतार माने जाने का विचार उत्पन्न हो गया होगा, किन्तु प्रचार न हो पाया होगा या तात्कालिक जनता उस विचार को कुछ महत्त्व न देती रही होगी, जैसा कि आगे चलकर हम पुराण ग्रन्थों में देखते हैं। आजकल गांधीजी जिस प्रकार अवतार नहीं माने जाते, पर उनका महत्त्व किसी भी अवतार से कम नहीं है और जनता के हृदय में एक अस्पष्ट भावना ऐसी दिखाई देती है कि आगे चलकर सम्भव है वे अवतार समझे जाने लगें; वैसी ही परिस्थिति उस समय भी दिखाई देती थी। उसके पश्चात् वामनावतारवाली कथा पर ध्यान जाता है, जहाँ वे राजा बलि से तीन पग में समस्त वसुधा को माँगकर इन्द्र का कष्ट निवारण करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि इन्द्र अवश्य उस समय में कोई बड़ा वैभवशाली आर्य राजा रहा होगा और बलि तो स्पष्ट रूप से अनार्य राजा-सा ज्ञात होता है। वैदिक काल में इन्द्र तो सब देवताओं (Gods) में श्रेष्ठ समझा गया है और जैसी दुर्गति इन्द्र की बाद में मिलती है, उसका रंच भी आभास पहले दिखाई नहीं देता। बार-बार इन्द्र की सहायता के लिए भगवान आते हैं और वह किसी से पराजित होता है तो उसकी सहायता की जाती है। यहाँ तक कि भले-बुरे का विचार छोड़कर भी उसे क्षमा प्रदान की जाती और सब प्रकार से उसकी सहायता की जाती है। दधीचि तक अपनी हड्डियाँ उसे वज्र बनाने के लिए दे देते हैं। इसमें इस कथन की पुष्टि होती है कि वह अवश्य कोई आर्य राजा रहा होगा, जिसकी सहायता ऋषि-मुनि समय-समय पर सब प्रकार से किया करते थे। बाद में आर्य और अनार्यों के मिलन से अथवा उनमें पारस्परिक भेद भाव के मिट जाने से उसका महत्त्व बहुत कम हो गया। आजकल की राजनैतिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि यह अनार्यों का प्रोपेगेन्डा था,

जिसने इन्द्र को इस पद पर ला पटका* पर जनता अवश्य उस वैदिक विचार को भूल गई थी, नहीं तो इन्द्र की—जो एक समय अत्युच्च पद पर था—दुर्गति न हुई होती। वामनावतार में विष्णु त्याग के अवतार के रूप मे आये हैं। इसके पश्चात् के ग्रन्थों मे विष्णु पर कृष्ण के रूप में जो आपत्ति आई है उसका वर्णन मिलता है, किन्तु उस समय तक विष्णु प्रमुख देव नहीं माने गये थे और न अवतार ही की कल्पना की गई थी। अभी जो तैत्तरीय आरण्यक प्रकाशित हुआ है उसके देखने से ज्ञात होता है कि इस समय से भी वे कुछ अंशो मे अवतार माने जाने लगे थे। महाभारत मे विष्णु इस अवतार के सम्मान से विभूषित हो गये। यहाँ एक विशेष बात ध्यान मे रखने की यह है कि इस समय तक एक ही स्थान को छोडकर कही कृष्ण का नाम नहीं आया था; पर यहाँ ये उसी विष्णु के अवतार के रूप मे दिखाई देते हैं और इस समय कृष्ण एक प्रमुख और लोकप्रिय व्यक्ति हो जाते है जिनका वेदों मे बिल्कुल अस्तित्व ही न था। महाभारत मे विष्णु का उतना ही वर्णन मिलता है जितना कि कृष्ण के लिए आवश्यक है या कृष्ण के अवतार कहलाने के लिए उचित है। अभी तक इन्द्र ही एक बडे पूजा-योग्य देव के रूप में सम्मानित था जैसा कि गोवर्धन पर्वत के उठाने की कथा से विदित होता है। देवकी-पुत्र कृष्ण का वर्णन केवल एक बार वैदिक साहित्य में आता है। वहाँ वे एक ऋषि के शिष्य के रूप

---

* इसी कथन की पुष्टि अशोक-वन एवं उसकी भूमिका तथा कतिपय अन्य ग्रथों मे भी, जो दक्षिण भारत में लिखे जा रहे हैं, होती है। आज से ७, ८ वर्ष पहिले मैंने इन विचारों को व्यक्त किया था और आज मैं देख रहा हूँ, राम-रावण के संबंध में भी वही विचार-धारायें भारतीय साहित्य में विलोडित हो रही हैं। राम का महत्त्व कम और रावण का अधिक प्रचारित किया जा रहा है। अखिल भारत की एकता की दृष्टि से रावण का महत्त्व बढ़े इसमें कोई हानि नहीं। किन्तु दोषारोपण के स्थान पर समन्वय की भावना का होना आवश्यक है। —लेखक

में ही प्रदर्शित किये गये हैं। विक्रम की दो शताब्दी पूर्व से हम कृष्ण को नाटक के नायक के रूप में पाते हैं। इसके भी लगभग सौ वर्ष पूर्व कृष्ण यूनानी देव हरक्यूलीज़ के समान पूजित हुए ज्ञात होते हैं, जैसा कि मेगेस्थनीज़ ने लिखा है कि वह गंगा के किनारे पूजा जाता है। उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि विष्णु का मत ज्यादा प्राचीन नहीं है। (अधिक प्राचीनता में शिव ही की महिमा अधिक है। शिव का बार-बार उल्लेख भी है।) ब्राह्मण ग्रन्थों ने ही इसका प्रचार किया है। विष्णु का नाम केवल कृष्ण के सम्बन्ध ही में आता है जो एक कुल-देवता थे। एक राजपूत के कुल देवता भी कृष्ण माने गये हैं।

धीरे-धीरे विष्णु का महत्त्व बढ़ता गया। उनका शस्त्र 'चक्र' और वाहन 'गरुड़' बनाया गया। यह भी माना जाने लगा कि वह अपनी पत्नी श्री या लक्ष्मी के साथ जो कि सुन्दरता, आनन्द एवं विजय की देवी मानी जाती थी – वैकुण्ठ में निवास करते हैं। कहीं-कहीं धीरे-धीरे विष्णु ब्रह्मा का कार्य करते हुए भी दिखाई देते हैं। नारायण से भी जो शेष या अनन्त कहलाते थे और बहुत प्राचीन देवता थे—इनका अब सम्बन्ध हो जाता है और ये हिरण्यगर्भ कहलाये जाने लगते हैं। साथ ही साथ ये सृष्टि-कर्ता भी मान लिये जाते हैं और इस समय उनका पद सर्वोच्च ही नहीं किन्तु देवता से परमात्मा का हो जाता है जहाँ ये अपनी इच्छानुसार सृष्टि-रचना एवं प्रलय या महाप्रलय के कार्य में प्रवृत्त होते हैं। जैसा कि इस वर्णन से ज्ञात होता है कि जब उनकी इच्छा सृष्टि-रचना की हुई तब उनकी नाभि से एक कमल निकला और उससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। यहाँ से हम विष्णु को संसार के कष्ट-निवारणार्थ पृथ्वी पर अवतार के रूप में जन्म लेते हुए देखते हैं। ऐसा कई बार हुआ है। कृष्ण के रूप में उनका बहुत महत्त्वपूर्ण अवतार हुआ है, जहाँ वे गीता में यह प्रसिद्ध श्लोक कहते हैं:—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानंसृजाम्यहम् ॥"

यही अवतारवाद का सिद्धान्त है । यह केवल वैष्णव धर्म की ही विशेषता नहीं है, वस्तुतः यह भारत के धार्मिक विकास को स्पष्टतया बताता है । इसका परिणाम यह हुआ कि यह जनता की इच्छा पर निर्भर रहा कि वह एक परमात्मा को माने या अनेक को । इससे अभी तक जो अनेक परमात्मा पूजे जाते थे उनमें साम्य स्थापित किया गया और जो कटु विरोध फैला हुआ था वह मिटाया गया । इस प्रकार प्राचीन के स्थान पर नवीन की सृष्टि हुई ।

जनता के लिए यह आवश्यक भी था क्योंकि जनता तो केवल अंध-विश्वास और परम्परा को माननेवाली होती है । जैसा उसका नियंत्रण किया जाय वैसी ही चलने को वह तत्पर रहती है । अब कोई एक ईश को माने या अनेक को कोई रोक-टोक नहीं थी और इससे जनता मे कई प्रकार की पूजाएँ प्रचलित हो गई थी । इसी का बहुत आगे यह परिणाम हुआ कि जब प्राकृत का स्थान देश-भाषाओं ने ग्रहण किया तब यहाँ अनेक मत, सिद्धान्त और पंथ फैले । पहले-पहल इसका कुछ विरोध अवश्य हुआ और उनमे कुछ धार्मिक जोश भी दिखाई दिया किन्तु बाद मे सब प्रभाव कम होता गया और ये सब धाराएँ बनकर विशाल हिन्दू-धर्म के महासागर की ओर बहती दिखाई देने लगीं ।

वल्लभाचार्यजी का जन्म एक तैलंग ब्राह्मण के यहाँ सम्वत् १५३५ (सन् १४७८ ई०) में वैशाख कृष्ण ११ को हुआ था । इनके सम्प्रदाय के लोग इन्हें अग्नि से उत्पन्न मानते है । भक्तमाल मे इनके विषय में लिखा है कि ये विष्णु स्वामीजी के सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य और भक्त थे और गोलोक से वात्सल्य, निष्ठा और भक्ति का प्रचार करने के लिए

अवतरित हुए थे। इन्होंने भगवान की मूर्ति की स्थापना कर भगवन्-भक्ति की प्रेरणा लोगों से की और अपना एक नवीन मार्ग, जो कि पुष्टि-मार्ग कहलाता है चलाया। इनका यह सेवा का मार्ग ऐसा था कि लोग स्वयं ही इसकी ओर आकर्षित हो जाते थे। इन्होंने भगवान के बाल-स्वरूप ही की विशेष भक्ति की है।

इनका कहना यह था कि भक्त भगवान की जिस रूप से आराधना करता है भगवान भी उसे उसी प्रकार परम पद पर अधिष्ठित करते हैं। वल्लभाचार्यजी को बाबा नंद माना है। पर प्रश्न यह उठा कि यशोदा किसको समझा जाय क्योंकि कृष्ण की भक्ति के लिए स्त्री-पुरुष दोनों की ही आवश्यकता थी। अतएव एक ब्राह्मण कन्या से इनका पाणि-ग्रहण कराया गया। इनसे इनको विट्ठलदास नामक पुत्र पैदा हुआ। यद्यपि ये राधिकाजी को कृष्ण की परम प्यारी समझकर विशेष रूप से उन्हीं की पूजा करते हैं किन्तु श्रीकृष्ण को भी पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्द समझा जाता है। भगवान के बाल-रूप के लिए इन लोगों में बड़ी निष्ठा रहती है। ये आँगन को घर से ऊंचा नहीं करते इस कारण कि लड़का चलते समय कहीं गिर न जाय। भगवान के शयन के समय जोर से बोलते नहीं इसलिए कि उनकी निद्रा भंग न हो जाय। इस समय कोई कोटाधीश भी उनके दर्शन को आये तो उसे दर्शन प्राप्त नहीं होते। जो तल्लीन भक्ति इन सम्प्रदाय के लोगों में देखी जाती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन्होंने अपने को वल्लभ इसलिये कहा कि वल्लभ उस गोप जाति का ही एक नाम है जिसमें नंद उत्पन्न हुए थे। ऐसा भी कहा जाता है कि एक बार एक साधु इनसे मिलने आया पर वह अपना बटुआ जिसमें भगवान की मूर्ति थी एक वृक्ष पर लटका आया। मिल-कर जब वह वापिस लौटा तो वह मूर्ति उसमें नहीं थी। वह फिर वापिस लौट आया तब वल्लभाचार्यजी ने कहा कि अपने इष्टदेव को छोड़कर

भी कोई कही जाता है। उसने हाथ जोडकर प्रार्थना की और पुनः जाकर अपनी मूर्ति प्राप्त की। कई लोग यह भी कहते हैं कि इनके पुष्टि-मार्ग का यह आशय है कि भगवान को खूब पुष्ट करना। उनको भोग लगाना, खूब अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलाना और सेवा-सुश्रूषा करना चाहिये और व्रत, उपवास संयमादि करने की आवश्यकता नही। इसमें प्रथमांश तो व्यवहार में ठीक वैसा ही है किन्तु अन्तिम बात ठीक नही है। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ देखने व विद्वानों के पूछने पर हमे ज्ञात हुआ कि ऐसा नही है। इस सम्प्रदाय के लोग व्रत, उपवासादिक भी करते हैं। शृङ्गार मे यद्यपि इनकी तल्लीनता है किन्तु तपस्या करने एवं वैराग्य धारण करने को ये कोई बुरा नहीं मानते। और न ऐसा कही इनके सम्प्रदाय के ग्रन्थों मे ही उल्लेख मिलता है। गीता को ये सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ मानते और उसके सिद्धान्तों का पालन करते है; किन्तु उसके ज्ञान मार्ग को—कर्म-मार्ग को नही। यह अवश्य है कि कुछ शृङ्गारिक प्रवृत्ति होने से इस सम्प्रदाय मे कई दोष आ गये है। पर यह बात कई अन्य सम्प्रदायों मे भी दृष्टि गोचर होती है। यजुर्वेद मे अग्नि का नाम पुष्टिवर्धन भी है। वल्लभाचार्यजी अपने को अग्नि का अवतार मानते थे। अतएव इनके चलाये हुए मार्ग को पुष्टि-मार्ग कहना उचित ही है। ईश्वर के अनुग्रह का नाम पुष्टि है। अतएव पुष्टि-मार्ग का आशय यह भी हो सकता है कि वह मार्ग, धर्म या सम्प्रदाय जिसमे ईश्वर के अनुग्रह का अधिक ध्यान रखा जाता है। यही बात इस सम्प्रदाय में भी देखने को मिलती है। ये व्रत, उपवास, तपस्या की अपेक्षा भगवदनुग्रह पर ही अधिक अवलंबित रहते है। जिस सम्प्रदाय ने सूर जैसे कवि को जन्म दिया उसके सिद्धान्त ऐसे नही हो सकते जैसे वाह्य रूप मे हमे दिखाई देते हैं। वास्तव में सिद्धांत देखने के लिए हमें उस समाज के चरित्र को नही, प्रत्युत उसके आचार्यों के द्वारा कथित मार्ग को देखना ही उचित है। इस दृष्टि से इस सम्प्रदाय के

पुष्टि-मार्ग ने दुःखावृत जनता के लिए उस समय बाम (Balm) का काम किया था।

'पुष्टि मार्ग के अनुसार कृष्ण ही ब्रह्म है जो सत्, चित और आनन्द-स्वरूप हैं। जिस प्रकार अग्नि मे चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार ब्रह्म में जीव और जगत् निकलते है। ये उससे भिन्न नहीं हैं। अंतर इतना ही है कि जीव आनंद को खोकर केवल सत् और चित् को अंशतः धारण किये रहता है। मुक्त होकर जीव आनंद-स्वरूप हो जाता है और कृष्ण के साथ चिरकाल तक एकाकार होकर रहता है। स्वर्गीय वृन्दावन ही, जहाँ राधा और कृष्ण चिरन्तन विहार करते हैं, भक्तों का आधार और लक्ष्य है।' — हिन्दी-भाषा और साहित्य'

अष्टछाप में सूरदास, कुंभनदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास ये आठ कवि थे जिन्होंने कृष्ण-काव्य की धारा का निर्मल प्रवाह प्रवाहित किया।

अष्टछाप के कवि तथा इस सम्प्रदाय का उत्तर भारत पर प्रभाव

इनमें प्रथम चार तो श्री वल्लभाचार्यजी के शिष्य थे और शेष चार गुसाईं विट्ठलदासजी के, जिन्होंने इन आठों प्रमुख कवियों को अष्टछाप के नाम से संगठित किया था। इनमें सूरदास तो सर्वश्रेष्ठ थे ही, नंददास भी एक उच्च कोटि के कवि हुए हैं। अन्य इतने प्रसिद्ध नहीं हुए। इनमें कृष्णदास किसी शूद्र जाति के थे, पर थे बड़े भक्त। परमानंददासजी कनौजिया ब्राह्मण थे। ये बड़े योग्य कवि और पूर्ण भगवद्भक्त थे। कीर्तन रचना करने और गानादि में भी बड़े निपुण थे। इसलिए जहाँ-जहाँ ये जाते वहाँ-वहाँ इनका एक समाज-सा स्थापित हो जाता था। कुंभनदासजी गोवर्धन पर्वत के निकटवर्ती जमनावती ग्राम के रहनेवाले थे और परासोली

चंद सरोवर के पास इनकी कुछ ज़मीन-जायदाद भी थी। वहीं ये खेती करते थे। ये स्वामीजी के परम भक्त थे। नंददास के विषय मे कहा जाता है कि ये गोस्वामी तुलसीदासजी के छोटे भाई थे पर वास्तव मे गोस्वामी तुलसीदास जी के भाई नहीं थे, किसी अन्य तुलसीदास के भाई रहे होंगे। इनको नाच-गायनादि का बडा शौक था। एक दिन तुलसीदासजी से विना पूछे घर से बाहर निकल गये। द्वारका जाते समय रास्ता भूलकर सीनंद ग्राम में पहुँच गये। वहाँ एक क्षत्राणी पर आसक्त हो गये। जब उस क्षत्राणी के घरवालों को यह मालूम हुआ तो वे वहाँ से भागे नददास जी को मालूम हुआ तो वे भी पीछे-पीछे गये। तब उस क्षत्राणी के घर वालों ने नाविक से कहा कि भाई हमे पार उतार दो और इनको मत उतारो, क्योंकि ये हमे दुःख देते है। जब उस पार पहुँचे तो श्री विट्ठलदासजी ने कहा कि उस पार तुम जिस ब्राह्मण को छोड आये हो उसे ले आओ। तब नन्ददासजी भी आ गये और इनसे मिले तो भगवद्भक्ति में ही इतने तल्लीन हो गये कि उस क्षत्राणी का ध्यान तक भूल गये। इनकी रचना बडी सुन्दर है और कई विद्वान् तो इनके भ्रमरगीत को सूरदास के भ्रमरगीतों से अच्छा मानते हैं। इसमे शक नही कि इनकी रचना में सहृदयता और कवित्व का अच्छा परिपाक हुआ है। सूरदासजी के समान इन्होंने भी भ्रमरगीत एवं उद्धव-गोपी-संवाद लिखे है। उसी सम्प्रदाय के होने के कारण इन्होंने भी अपनी रचनाओं मे सगुण परमात्मा की भक्ति को ही श्रेष्ठ बताया है। छंद-रचना भिन्न होने पर भी, पात्र, कथा एवं लेखन-शैली की एकता पाई जाती है। अष्टछाप के कवियों मे भी कवित्व, सगुणोपासना, भक्ति आदि का साम्य पाया जाता है, जो स्वाभाविक है। नंददास की उक्तियाँ अनूठी अवश्य है और शायद सूर के अनुकरण अथवा स्पर्द्धा मे लिखी गई ज्ञात होती है। किंतु विदग्धता होते हुए भी स्वाभाविकता उतनी नही है, जितनी

सूर में है। नंददास की गोपियाँ तर्क करनेवाली विदुषी स्त्रियाँ हैं, पर सूरदास की गोपियाँ साधारण, भोली ब्रजबालाएं। नंददास के आमने-सामने तर्क-वितर्क, खंडन-मंडन करनेवाले दो दल उपस्थित किये हैं, पर सूर की गोपियाँ अपने विरह में स्वाभाविक रूप से जो निकल जाता है, वही प्रकट करती हैं। चतुर्भुजदासजी कुम्भनदासजी के पुत्र थे। जब ये ग्यारह ही दिन के हुए, तब ही इन्हें गुरु मंत्र दिलवा दिया गया। और पीछे तो ये श्रेष्ठ भक्तों में से हुए। छीत स्वामी मथुरा के निवासी थे। वार्ता में इनके विषय में लिखा है कि ये मथुरा के पाँच प्रमुख गुण्डों के सरदार थे और लोगों को ठगा करते थे। एक बार उन्होंने सोचा कि गोस्वामी विट्ठलदासजी सब लोगों को वश में कर लेते हैं, यदि हमको करें तब हम जानें। यह सोचकर वह एक खोटा रुपया और एक खराब नारियल लेकर गोसाईंजी के पास पहुँचे। वहाँ गोसाईंजी ने रुपए के पैसे भुनवाये जब पैसे आ गये तब नारियल फुड़वाया गया। उसके अन्दर अच्छी गिरी निकली। यह देखकर छीत स्वामी भी इनके भक्त और कवि हो गये। गोविन्द स्वामी सनाढ्य ब्राह्मण थे। आँतरी ग्राम में रहते थे। ये भी परम भक्त हुए हैं। इन सब ने श्रीकृष्ण का जितना गुणगान किया है, उसका हिन्दी-साहित्य पर अमिट प्रभाव है। जिस समय ये भक्त कवि अपने सदुपदेशों एवं मधुमयी वाणी से अमृत-सिंचन कर रहे थे उस समय का क्या कहना! उस समय गोकुल, मथुरा, ब्रजभूमि कृष्णमय हो ही रही थी। वास्तव में वल्लभ स्वामी चाहे अवतार न रहे हों; कृष्ण का अवतार न हुआ हो, किन्तु उस समय जो आनन्दातिरेक व्यक्त होता था, वह उस समय की देन है और यदि गोस्वामी तुलसीदास सदृश महाप्रतिभाशाली प्रकाण्ड विद्वान नहीं हुआ होता तो समस्त उत्तर भारत ही कृष्णमय हो जाता। उस प्रबल वेग के समक्ष मत-मतान्तर, पंथादि सब एक ओर रह जाते; क्योंकि बंगाल

को श्रीकृष्ण चैतन्य ने कृष्ण भक्ति से ओत-प्रोत कर ही दिया था। इधर से अष्टछाप के अष्ट काव्य-महारथी कृष्ण-काव्य-रचना मे जुटे हुए थे। जो प्रवाह इन्होंने प्रवाहित किया वह एक साधारण स्रोत-मात्र ही नहीं था जो साधारण गर्मी मे शुष्क हो जाता। वह बहता रहा और आज तक उसमे जल प्रवाहित हो रहा है। यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि इस प्रबल स्रोत के साथ अकेले तुलसी ने भी वह स्रोत प्रवाहित किया जो अक्षय और अनन्त है और सदा हिन्दी-साहित्य पर अपना अमिट प्रभाव बनाये रखनेवाला है।

संगीत और सूर का तद्विषयक ज्ञान

मानव-जीवन को ही यदि हम संगीतमय मान लें तो अत्युक्ति न होगी। संगीत ही जीवन है। मानव-जीवन का एक बडा भाग करुणामय है। यह करुणा हमारी हृदय-तंत्री को झंकृत कर देती है, वह झंकार जिस अलौकिक राग को जन्म देती है, वह भी संगीत ही है। आधुनिक रहस्यवादी कवियों एवं उनके अनुयायियों मे जो हम रुदन देखते है, उसका कारण शायद यही है। यह सगीत मानव-हृदय के एक विस्तृत भाग पर अधिकार किये हुए है। समस्त ब्रह्माण्ड का एक-एक अणु तक संगीतमय है। संगीत ही मानव-जीवन का एक-मात्र आधार है। बिना संगीत के जीवन ही नहीं—वह शुष्क है, नीरस है। सगीत ही मनुष्य को हँसा और रुला सकता है। इसका प्रभाव बडा व्यापक है। असभ्य जातियों मे भी संगीत और नृत्य का वडा महत्त्व है, यद्यपि अन्य ललित कलाओं से भी वे अनभिज्ञ है। संगीत नादाश्रित है। नाद-ध्वनि ही समस्त वसुधा मे व्याप्त है। इसके झकोरों से वायु-मंडल कंपायमान हो सकता है। इसी के द्वारा एक आत्मा का संदेश दूसरी आत्मा तक पहुँचता है। संसार के सब व्यापारो मे संगीत ही का साम्राज्य है। कुछ शास्त्र ऐसा भी मानते है कि पृथ्वी केन्द्र से एक ध्वनि निकला करती है। इससे यह

ज्ञान होता है कि भूगर्भ भी संगीत-विहीन नहीं है। ऐसा भी कहा जाता है कि वेद के पहिले नाद की उत्पत्ति हुई ; तब तो यह बात और भी पुष्ट हो जाती है। भारत का जीवन ही आदिकाल से संगीतमय रहा है, क्योंकि जीवन स्वयं एक करुण संगीत है। अतएव जिस समय मे मानव-प्राणी ने इस भू-पृष्ठ पर प्रथम साँस ली होगी, उसी समय से संगीत का प्रादुर्भाव हुआ होगा। भारत ने तो इसे अपनी आदिम अवस्था में ही उच्च कोटि पर पहुँचा दिया था। पर यह भारत का दुर्भाग्य है कि इसने अन्य कलाओं के साथ संगीत को भी तिलाञ्जलि दे दी। इससे उसका विकास अवश्य रुक गया, पर यह संगीत ही की शक्ति थी कि वह अनेकों आघातों को सहकर भी अपनी सत्ता एवं महत्ता कायम रख सका। विदेशी आक्रमणकारियों के नृशंस हाथ सब ललित कलाओं एवं शास्त्रों को नष्ट करने में समर्थ हो सके, किन्तु संगीत के समक्ष उनको भी नतमस्तक होना पड़ा। संगीत तो यहाँ की वायु के प्रत्येक अंश में व्याप्त था। यदि उस वायु को हटाकर वे विदेश की वायु ला सकते तो अवश्य संगीत का स्थानापन्न भी इन्होंने कोई ढूंढ़ निकाला होता। संगीत ही एक ऐसा विषय मुस्लिम आधिपत्य के समय रहा है जहाँ हिन्दू और मुसलमान एक साथ गले मिल सके है। जो कार्य काव्य नहीं कर सका है वह संगीत ने किया है। आचार्य के स्थान पर चाहे उस्तादजी लोग पहुँचे गए हों, किन्तु उस समय संगीत की रंगभूमि पर दोनो एक थे। संगीत के विषय में यह भी कहा जाता है कि वह कुरान की शरीयत के विरुद्ध है। फिर भी इस्लाम संगीत के प्रति अप्रिय नहीं रहा और भारतीय संगीत को—जब वह यहाँ अपनी दृढ़ नींव जमा चुका था—अपना लिया। अन्य शास्त्रों के समान भरत मुनि ही इसके भी आदि आचार्य माने जाते हैं ; किन्तु संगीत का प्रचार हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से ही था। सामवेद की रचना का मूलाधार ही संगीत है। संगीत के शिरोमणि महाआचार्य शारंगदेव हुए हैं। इन्होंने पिछले कई आचार्यों के

विषय मे लिखा है; किन्तु उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। इन दोनो आचार्यों के समय मे मोटे रूप से यही अन्तर है कि जहाँ पहले केवल तीन स्वर माने जाते थे, वहाँ शारंगदेव के समय तक सात स्वर माने जाने लगे थे और वे ही आज तक माने जाते है। सूर का समय संगीत के पूर्ण विकास का काल है। यह वह उच्च शिखर है जहाँ तक उसका उन्नति मार्ग चढता आया और वहाँ से फिर उसका उतार प्रारंभ हुआ और उसकी रूप-रेखा ही विकृत, विलीन-सी और क्षीण होती गई।

संगीत मे गायन, वाद्य एवं नृत्य तीनो सम्मिलित है। संगीत का अर्थ यह है कि जो सम्यक् प्रकार से गाया जा सके। संगीत-शास्त्र सात भागों में बँटा हुआ है—स्वर, राग, ताल, नृत्य, भाव, कोक और हस्त। गीत दो प्रकार के होते है—एक यंत्र दूसरा गात्र। जो वीणा आदि वाद्य यंत्रों से गाया जा सके, वह यंत्र है एवं जो कंठ से गाया जाये वह गात्र। गीतों के छः अंग भी माने जाते है, यथा पद, तान, विरुद, ताल पाट और स्वर। संगीत मे अक्षरों की मात्रा-शुद्धि एवं पुनरुक्ति आदि दोषों पर विचार नही किया जा सकता। गाना-बजाना दो प्रकार का होता है। ध्वन्यात्मक एवं रागात्मक। रागात्मक चार प्रकार का होता है। एक स्वर-प्रधान जिसमे स्वर के आग्रह से ताल की मुख्यता न रहे। दूसरा-उभय प्रधान जिसमे तान बराबर रहे और स्वर भी सुन्दर हो। तीसरा शुद्धता-प्रधान जिसमें राग के शुद्ध रूप रहने का आग्रह हो। चौथा माधुर्य-प्रधान जिसमें राग का कुछ रूप बिगड़े तो बिगड़े, पर माधुर्य रहे। संगीत के रूप-स्वर ये हैं—षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम्, धैवत, पंचम एवं निषाद। षड्ज, मयूर की बोली के समान, ऋषभ गाय की, गांधार अजा की, मध्यम् क्रौंच की, धैवत कोकिल की, पंचम अश्व की, एवं निषाद गज की बोली के समान है। इन सप्त स्वरों को संक्षेप मे स, रि, ग, म, प, ध, नि लिखते हैं। ये सातों स्वर शरीर की वायु-वाहिनी नलि-

कार्यों के आधार पर निश्चित किये गये हैं। सबसे ऊँचे स्वर को निषाद कहते हैं। इससे ऊँचा स्वर और नहीं होता। पंचम स्वर उत्तम इस-लिए समझा जाता है कि इसमें प्रथम पाँचों स्वरों के सम्मिश्रण से एक सर्वोत्तम राग आलापित होता है।

खरज से ऋषभ तक पहुँचने में जहाँ स्वर बदले उस वस्तु को मूर्च्छना कहते हैं। गान में स्वरों को गले में कँपाने को भी मूर्च्छना कहते हैं। जो स्वरों को आरम्भ करे एवं सूक्ष्म रूप से उसमें व्याप्त रहे उसे श्रुति कहते हैं। ये २२ होती हैं। हिन्दुस्तानी एकेडेमी या काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में एक महाराष्ट्र विद्वान् ने इनकी विवेचना कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि श्रुतियाँ और अधिक हैं।

ताल—समय का सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं बड़े से बड़ा समान विभाग ताल कहलाता है। ताल की उत्पत्ति इस प्रकार की कही जाती है—महादेवजी के नृत्य तांडव का 'ता' तथा पार्वतीजी के नृत्य लास्य से 'ल' लेकर इस शब्द का सृजन हुआ है।

नृत्य—नृत्य भी विशेषकर उपर्युक्त दो ही प्रकार का माना गया है—यथा तांडव व लास्य। जब नृत्य उग्र, मानसिक ओजमय रहता है। तब उसे तांडव नृत्य कहते हैं तथा जब वह मधुर, स्त्रीत्वयुक्त एवं सरस रहता है, तब उसे लास्य कहते हैं। क्रमशः शिव एवं पार्वती के नाम से इनका संबन्धित होना ही इनके भावों का स्पष्टीकरण है।

भाव निर्विकार चित्त में प्रीतम व प्रिया के संयोग अथवा वियोग से, सुख-दुःख से अनुभाव से जो प्रथम विकार हो वह संगीत में भाव माना जाता है।

कोक—नायक, नायिका, रस, अलंकार, उद्दीपन आदि का

ज्ञान 'कोक' कहलाता है तथा नृत्य-गायन आदि में हस्तादि चलाना 'हस्त'।

संगीत के सम्बन्ध में कई बाते प्रचलित हैं जैसे अमुक राग अमुक प्रकार गाना, अमुक समय गाना एवं अमुक राग को ठीक प्रकार से गाने से यह फल होता है अथवा हानि होती है। संगीत वही प्रशस्त है जिसमे अनुरोग हो। गानेवाले अथवा सुननेवाले मे यदि अनुरक्ति का आविर्भाव नहीं हुआ तो वह संगीत संगीत नहीं।

संगीत-विषयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते है, तब वह बहुत ऊँचे उठ जाते है और उनका सच्चा मूल्य आँका जा सकता है। वास्तव मे यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप मे कर सका है तो वह सूर ही है। तुलसी को यद्यपि हम भुला नहीं सकते, पर सूर की सरस लहरी संगीत के उपयुक्त उपकारी है और उसका सुबोधपन उसके गुण-गौरव और महत्ता को और भी कई गुना अधिक बढ़ाने मे समर्थ है। जहाँ तुलसी की संस्कृत-पदावली संगीत के माधुर्य को किन्ही अंशों मे कम कर देती है वहाँ सूर की प्रकृत प्रसवित होनेवाली शब्द लहरी समान रूप से स्वाभाविकता, सादगी, अल्हड़पन और प्रसाद को लिए हुए आगे बढती है। बडे-बड़े रूपक भी संगीत के लिए तुलसी अनावश्यक रूप से प्रयोग में लाये हैं, पर सूर के रूपक छोटे, आवश्यक, फबते हुए सरल और आकर्षक है। इसी लिए तुलसी संगीत का वह माधुर्य न ला सके हैं, जो उसका शृङ्गार है, ऐसा करने मे सूर ही समर्थ हो सके है, संगीत की सरल लहरी भावुकता, प्रवणता और उच्चता के साथ बहा सके है।

मुद्रित सूर-सागर में कई अशुद्धियाँ मिलती हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वास्तव में कई अशुद्धियाँ मुद्रण में तथा प्रतिलिपियों के कारण अवश्य रह गई हैं, पर कई अशुद्धियाँ ऐसी हैं जो अशुद्धियाँ

नहीं कहलाई जा सकतीं। इसका कारण है और वह यह कि उनके पद गेय हैं और संगीत में नाद की स्थिति के अनुसार शुद्ध उतरते हैं। कई श्रेष्ठवर्यों ने उन्हें अशुद्ध पाठ समझ शुद्ध शब्द रखने या शुद्ध पाठ देने का प्रयत्न किया है; किंतु ऐसा करने के पहिले किसी गायनाचार्य की सम्मति उन शुद्धाशुद्ध पाठों के लिए लेना सूर के सदृश गायक और संगीतज्ञ के साथ न्याय करना है। क्योंकि केवल काव्य-ज्ञान के आधार पर सूर के पदों के पाठों को शुद्ध करना पूर्णतया उनके साथ न्याय-संगत नहीं हो सकता।

सूरदासजी ने कोई ऐसी राग-रागिनी नहीं छोड़ी है जिस पर उनका पद न मिलता हो। कई तो उनमें ऐसी हैं जिनके लक्षणों के विषय में सामग्री ही प्राप्त न हो सकी। संभव है उनके समय में कुछ ऐसी रागिनियाँ प्रचलित हों, जो आजकल के गायक उपयोग में न लाते हों अथवा किन्हीं दूसरे नाम से पुकारते हों। कोई संगीताचार्य विद्वान ही अत्यंत छानबीन के पश्चात इस विषय पर समुचित रूप से प्रकाश डाल सकता है।

सूर के पदों में काव्य-माधुरी तो है ही किंतु संगीत की दृष्टि से तो उनका महत्व और अधिक बढ़ जाता है। कहीं-कहीं पर जो खटक है वह गायन में शुद्ध हो जाती है।

सूरदासजी ने समस्त सूर-सागर में कान्हरा, मारू, धनाश्री, रामकली, नट, सारंग, केदारा, देवगंधार, सोरठ, बिहागरा, मलार, गौरी, परज, कल्याण, गूजरी, आसावरी, नट-नारायण, बसंत, भैरव, आदि राग-रागिनियों का प्रयोग किया है। इनमें भी कई विभिन्न प्रकार से गाई जा सकती है।

सूर के सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वे अद्भुत गायक थे। उन्हें संगीत का अगाध ज्ञान ही नहीं था, वरन उन्होंने

अपने सब पद गाने के लिए ही बनाये थे जिन्हें वे अपने गुरु वल्लभाचार्य महाराज तथा उनके पुत्र तथा गद्दी के अधिकारी विट्ठलदासजी को सुनाया करते थे और उनसे उत्तरोत्तर प्रोत्साहन प्राप्त कर अपनी प्रतिभा तथा साहित्य की वृद्धि करते जाते थे। इसी समय इन्होंने संगीत मे भी अपनी अप्रतिम गति प्राप्त कर ली थी जिसका पूर्ण उपयोग इन्होंने सूरसागर सदृश महासागर का प्रणयन करने मे किया। ये अष्टछाप के कवियों मे तो अग्रगण्य थे ही। संगीताश्रित काव्य का आधार लेकर ही सूर स्वयं भाव-विभोर हो जाते थे और भक्तों को भाव-मग्न कर देते थे। वह मीरा और सूर की ही संगीत-समन्वित भाव-लहरी थी जिसने भगवान कृष्ण का इतना महत्त्व प्रतिष्ठित कर दिया था। उन्हे व्यापक और जनसमूह मे बिखरा दिया था। सूर की इसी सरस लहरी ने वृन्दावन एवं गोकुल के कण-कण को वन-भूमि, कॉटेदार वृक्षों, यमनाकूल, तमालादि वृक्ष को पूजित, दर्शनीय बना दिया था, उनमे जीवन एवं ईशत्व का प्रादुर्भाव कर दिया था। वह समय धन्य था। जिस समय सूर अपनी तान छेडते सब वातावरण मे वह व्याप्त हो जाती, और इतनी गहरी आज वह हो गई है कि आज तक हम उस स्वर-लहरी को सुन रहे है और भविष्य मे भी सुनते रहेगे। संगीताश्रित होने के कारण ही उनके जीवन में ही उनका काव्य जनप्रिय हो सका। उसे आकर्षित और भक्तिमय कर सका। सूर के अक्षर-अक्षर मे संगीत मुखरित हो उठता है, संगीत जब काव्यमय होता है तब सोने मे सुगंध का काम करता है, बडा व्यापक और प्रभावोत्पादक होता है। सूर का काव्य भी सगीत के सम्मिलन से ऐसा ही हो गया है।

यह भी हमें नही भूलना चाहिये कि सूर ने इतना गीति-काव्य (Lyric poems) लिखा है जितना हिन्दी क्या किसी भी विश्व की उन्नत भाषा में सर्वथा अप्राप्य है, और जैसे-जैसे सूर के संगीत-ज्ञान

पर खोज और विवेचन होगा वैसे-वैसे सूर केवल महाकवि ही नहीं महा संगीतज्ञ भी माने जायेंगे और यदि अत्युक्ति न समझी जाय तो मैं यह निश्चय-पूर्वक और दृढ़ता से कह सकता हूँ कि विश्व में उनका अद्वितीय स्थान होगा।

अन्य अनेक कवियों एवं महापुरुषों के समान सूरदास के संबंध में भी बहुत कम ज्ञात है। विस्तृत विवरण की तो कौन कहे जन्म एवं मृत्यु-तिथि तक लिखने का भाव हमारे यहाँ नहीं रहा है। यह अवश्य

सूर का संक्षिप्त वृत्त

हमारे यहाँ के कवि करते रहे कि वे ग्रन्थ-प्रणयन की तिथि दे दिया करते थे। इससे एवं इतिहास के आधार से कई ज्ञातव्य बातों का पता लग जाता है। मिश्रबन्धुओं के अनुमान से इनका जन्म संवत् १५४० एवं मृत्यु १६२० के लगभग हुई। चौरासी वैष्णवों की वार्ता एवं भक्तमाल के अनुसार सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम रामदास था। ये सीही ग्राम के निवासी थे और इनके माता-पिता निर्धन थे। ऐसा भी कहा जाता है कि जब यह आठ वर्ष के थे उस समय ये अपने माता के बहुत आग्रह करने पर भी एक तीर्थ में एक साधु के पास रह गये। ये एक अच्छे गायक थे और गीत बना-बनाकर लोगों को सुनाया करते और उपदेश दिया करते थे और गऊघाट पर रहा करते थे। इनके विषय में यह कहा जाता है कि ये जन्मान्ध थे; किन्तु विद्वानों ने इनके ग्रन्थों का अध्ययन कर एवं उसमें वर्णित विषय की बातों पर विचार कर यह निश्चित किया है कि ये जन्मान्ध नहीं थे और वास्तव में ये जन्मान्ध नहीं मालूम पड़ते हैं। इनका विस्तृत ज्ञान, इनका प्रकृति-अवलोकन, रूप-रंग का यथार्थ वर्णन, मानवी स्वभाव का अनुशीलन आदि कई बातें इनके साहित्य में इतनी प्रचुरता से प्राप्त होती हैं कि इन्हें जन्मान्ध मानने में संदेह होता है। इनके अंधे होने के विषय में

एक कथा भी प्रसिद्ध है किन्तु उसमें कितना सत्यांश है यह कहना कठिन है। कथा यों है, एक बार इन्होंने एक सुन्दर स्त्री को देखा और देखकर उस पर इतने मोहित हो गये कि बार-बार उसके घर का चक्कर लगाने लगे। यहाँ तक कि एक बार तो ये उसके घर के अन्दर भी चले गये और उस स्त्री से प्रणय-याचना की। किन्तु उसके उपदेश से या स्वयं हृदय में कुछ ज्ञान उत्पन्न हो जाने से वापिस लौट आये। ऐसा भी कहा जाता है कि एक रात्रि को जब ये उसके प्रकोष्ठ में पहुँचे तो एक लटकते हुए सर्प को रस्सी समझकर उसके सहारे चढ़े थे। वापिस लौटने पर इन्हें अपनी करनी पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और इन्होंने अपने हाथों अपनी आँखें फोड़ लीं। इस प्रकार के कथन अन्य महात्माओं के विषय में भी प्रचलित हैं और उन सब में कुछ-न-कुछ सत्यांश हो सकता है। कारण कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही काम और वासना का दौर-दौरा इस संसार में चला आ रहा है। कई महात्माओं के साथ एक ही प्रकार का कथन मिलना कुछ असम्भव नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो महापुरुषों की यही जीवनी है। जन्म और मरण की तिथियों की साधारण घटनाओं से समन्वित मध्यकाल को किसी महापुरुष की जीवनी मानना चाहे अनुचित न हो, पर किसी महाकवि की जीवनी मानना तो अनुचित ही नहीं, उस कविश्रेष्ठ के प्रति अन्याय करना है। महाकवि की जीवनी तो उन सरस, भावुकतामय, सहृदयता से परिपूर्ण घटनाओं की समष्टि है जिसके अन्दर अनुभूति की अविरल धारा, अनवरत रूप से प्रवाहित होती रहती है; जिसके हृदय-पट-रूपी यंत्र-विशेष पर संसार की घटनाओं के चिन्ह अंकित होते रहते हैं; जिसके हृदय-गिरि से भावों और रसों के स्रोत बहा करते हैं। तुलसी की नहीं महाकवि तुलसी की जीवनी का श्रीगणेश "हम तो चाखा प्रेम-रस पत्नी के उपदेश" वाली घटना में होता है। महाकवि वाल्मीकि की जीवनी युगल क्रौंच पक्षी के जोड़े के करुण अन्त से शुरू होती है। महाकवि कालिदास की जीवनी

पगी के धिक्कार से प्रारम्भ होती है। ये ही सरस, भावुकता से परिपूर्ण घटनाएँ किसी कवि की सच्ची जीवन-गाथाएँ हैं। इनमें विश्वास करने में चाहे किसी को हिचकिचाहट हो पर मानव-जीवन सदा से ही इन्हीं स्रोतों में से प्रवाहित होता आया है। ऐसी घटनाएँ ही भावों को चरम सीमा पर पहुँचा सकती हैं, मनुष्य को कवि बना सकती हैं। यदि ये अथवा ऐसी घटनाएँ घटित न हों तो प्रतिभा अपना पथ छोड़ दे, कवित्व की अनुगामिनी होना छोड़ दे। इसी प्रकार सूर की उक्त घटना में सत्यांश कितना है इसका पता लगाना कठिन है, पर सूर के हृदय की जीवनी के सत्यांश का सारतत्त्व तो वही है, जिससे सूर सूर हो सके, महाकवि हो सके। बिना भाव-विभोरता के कवि होना बिना जल-प्रवाह के धारा का होना है। पर मानवी जीवन का सिलसिला तो इस प्रकार रहा, जो यद्यपि कवि जीवनी के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं, पर शायद किसी की मनस्तुष्टि उससे ही हो जाय।

एक बार गऊघाट पर महाराज वल्लभाचार्यजी पधारे थे। सूरदासजी ने जब इनके आगमन के विषय में सुना तब ये भी उनसे मिलने गये और इन पर उनका इतना प्रभाव पड़ा कि ये भी उनके शिष्य हो गये। इस समय जब आचार्यजी ने इनसे कोई पद गाने के लिए कहा तब इन्होंने "हौं हरि सब पतितन को नायक" एवं "प्रभु मैं सब पतितन को टीको" वाले पद कहे। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि जब ये गऊघाट पर रहते थे और अपने जीवन पर पश्चात्ताप करते रहते थे तभी के विनय-सम्बन्धी पद हैं। वल्लभाचार्यजी ने इनको प्रतिभाशाली समझ कहा—सूर तुमने भगवान की विनय तो बहुत की अब कुछ भगवान की बाल-लीला गाओ। उस समय से ये भक्त हो गये और वल्लभाचार्यजी की वात्सल्य-भक्ति का इन पर खूब प्रभाव पड़ा। इनका मस्तिष्क उर्वर और प्रतिभा-सम्पन्न तो था ही बस फिर क्या

था, उस ओर प्रवाहित हुआ तो उसने उस महासागर की रचना की जो विश्व-साहित्य मे अग्रणी है। इस समय ये नये-नये पद रचते जाते थे और आचार्यजी को सुनाया करते थे। वे भी इनका उत्साह बढ़ाया करते थे इस प्रकार उत्तरोत्तर इनकी प्रतिभा एवं साहित्य की वृद्धि होती चली गई।

एक बार सूरदासजी मार्ग मे चले जाते थे तब इन्होंने चौपड खेलते हुए कुछ लोगों को देखा और उपदेश दिया। उस समय उन्होंने यह पद कहा 'मन तू समझि सोच विचार'। बाद मे ये श्रीनाथजी की सेवा किया करते और पद बना-बनाकर सुनाया करते थे। एक बार सूरदासजी ने 'देखौ देखौ हरि जू को एक स्वभाव' वाला एक पद कहा तब चतुर्भुजदासजी ने कहा कि भगवान का यश तो तुमने बहुत वर्णन किया, अब महाप्रभु आचार्यजी का भी तो यश गाओ। तब सूरदास ने कहा कि मैने तो समस्त पद उन्ही पर बनाये है। फिर भी उन्होंने यह पद गाया—

"भरोसो दृढ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ नख-चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो॥
साधन और नहीं या कलि में जासो होत निबेरो।
सूर कहा कहि दुबिध आँधरौ बिना मोल को चेरौ॥

मृत्यु के कुछ समय पहिले सूरदासजी पारासोली चले गये और वहाँ जब गोस्वामीजी ने इनसे पूछा कि तुम्हारी चित्त-वृत्ति कहाँ है, तब सूरदास ने जो पद कहा वह बहुत ही धार्मिक एवं उत्कृष्ट है।

"खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिजरा न समाते॥

चलि-चलि जात निकट श्रवनन के उलटि-पुलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुण अटके नातरु अब उड़ि जाते॥"

पद समाप्त होते ही नेत्र-खंजन सदा के लिए उड़ चले।

सूरदासजी के निम्नलिखित पाँच ग्रन्थ कहे जाते हैं। सूरसारावली, सूरसागर, साहित्य-लहरी (दृष्टकूट), नलदमयन्ती और व्याहलो। इनमें प्रथम तीन प्रकाशित एवं प्राप्य हैं, और शेष दो

सूर के ग्रन्थ

अप्राप्य। अतएव सूरसाहित्य पर विचार करते समय प्राप्य तीन ग्रन्थों पर ही दृष्टि सीमित रहेगी। सूर-सागर-सारावली एवं सूर-सागर के पृष्ठादि के लिए मैंने श्री वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित सूर-सागर का एवं साहित्य-लहरी के लिए सरदार कृत टीका का एवं बाबू हरिश्चन्द्रजी की टीका का सहारा लिया है।

सूरसागर-सारावली ३८ पृष्ठों में समाप्त हुई है। इसमें प्रथम 'बन्दौं श्री हरिपद सुखदाई' वाला पूर्ण पद है और उसके नीचे टेक गायन के लिए। इसके पश्चात सरसी एवं सार छन्दों के ११०६ द्विपद

सूरसागर-सारावलि

छंद और हैं। इसके विषय में यह कहा जाता है कि यह सूरदासजी रचित सवा लाख पदों का सूची-पत्र है। सारावली के ऊपर ऐसा भी लिखा है और मिश्रबन्धुओं ने भी इसी के अनुसार इसे सूची ही माना है। पर मेरी समझ में यह सूची नहीं है। सूरसागर पढ़ने के उपरांत मैंने सारावली भी पढ़ी पर मुझे यह सूची नहीं, प्रत्युत सारावली ही जँची। वास्तव में यदि इसे सूची माना जाय तो ऐसा मानना होगा कि उनके कई उत्तम-उत्तम पद जैसा कि कहा भी जाता है, छूट गये हैं। और सूरदासजी ने सूरसागर के जो छोटे-बड़े स्कन्ध बनाये हैं, वे दशम स्कंध के पूर्वार्ध को छोड़कर सब प्रायः बराबर ही रहे होंगे, पर ऐसा नहीं है। मेरा

ख़याल है कि ऐसे ही पद नष्ट हुए हैं जो साधारण कोटि के होंगे, अथवा उनके पदों से इतना अधिक साम्य होगा कि उनकी आवश्यकता ही न हो या उनके पद नष्ट ही नहीं हुए हों। सूरसागर से पीछे सारावली की रचना हुई यह तो बात निश्चित और स्वयंसिद्ध है ही। यदि सवा लाख पदों की ही सूची होती तो वह इससे बड़ी होती और प्राप्य सूरसागर भी अवश्य ही अधिक बृहदाकार होता; क्योंकि सूरसागर से सारावली उत्कृष्ट नहीं है। कोई भी वह चाहे सूरदासजी रहे हों अथवा अन्य कोई या जनता, उसने सूरसागर के पदों को नष्ट होने दिया हो और सारावली को नष्ट होने से बचाया हो, ऐसा नहीं हो सकता। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यह सारावली इसी सूरसागर के आधार पर बनी है और यदि स्वयं सूरदासजी ही ने इसका संकलन किया है, और ऐसा है भी तो, उनके पद नष्ट नहीं हुए वरन उन्होंने स्वयं अनुपयोगी एवं अत्यधिक साम्य रखनेवाले अनुत्तम पदों को सूरसागर मे स्थान नही दिया। सारावली मैं इसे इसलिए कहता हूं कि इसमे संक्षेप में समस्त सूरसागर का सार दिया गया है। इसमे एक बात और ध्यान देने की है वह यह कि सूरदासजी ने उचित समानुपात से इसका सार नहीं लिखा है। ऐसा ज्ञात होता है कि कई अवतारों के वर्णन मे व अन्य कथाओं के वर्णन मे उन्होंने सूरसागर मे कुछ कम लिखा था उसे यहाँ कुछ बढा दिया है और वहाँ जिसका वर्णन वे विस्तृत रूप से कर आये हैं उसको संक्षिप्त कर दिया है। इसकी रचना करने का उनका कदाचित् एक उद्देश्य यह भी रहा हो—जैसा कि इसके पढने से मुझे ज्ञात होता है, जो वैष्णव भक्त या उनके सम्प्रदाय के लोग समस्त सूरसागर का पाठ न कर सकें और उसमें वर्णित कथा से ही सन्तुष्ट हो जाना चाहें वे अल्प समय मे अपनी जिज्ञासा की तृप्ति इससे कर लें। अतएव इसे सूची नहीं बल्कि सारावली मानना ही अधिक उचित है। इसकी भाषा भी मुझे सूरसागर

के कई शिथिल पदों, वर्णन आदि में अच्छी प्रतीत हुई। इसमें एक विशेषता और है वह यह कि यद्यपि यह सूरसागर के उत्कृष्ट पदों की समता नहीं कर सकती किन्तु इसमें कथा का प्रवाह नियमित एवं समान रूप से समन्वित होता चला गया है इसलिए हम इसे उनकी प्रबन्ध-रचना भी कह सकते हैं। पर आश्चर्य यह है कि सूरसागर वास्तव में प्रबन्ध-रचना नहीं है उसे कई लोग ऐसा मानकर कहते हैं कि कथा बीच-बीच में शिथिल हो गई है। वह बाह्य रूप से भले ही प्रबन्ध रचना दिखाई दे पर है नहीं। प्रबन्ध-रचना यदि कोई उनकी है तो यही सारावली। इसका सूरदासजी ने स्कंधवार भी सारांश नहीं लिखा है। समस्त बारह स्कंधों का सारांश एक साथ ही लिखते गये हैं। और न यह ऐसी प्रतीत होती है कि महाकवि ने सूरसागर की पुनरावृत्ति कर इसका सारांश लिखा है, इससे भी हमारी उपर्युक्त बात सिद्ध होती है। सूरसागरवली के संबंध में मान० श्री द्वारिकाप्रसादजी मिश्र का निश्चित मत है कि यह सूरदासजी की लिखी नहीं है, जब सूरसागर का संग्रह ही सूरदासजी ने नहीं किया...तब उसके द्वारा उसका सूचीपत्र तैयार किया जाना असंभव बात है। . किसी निम्न श्रेणी के कवि ने सूरसागर का संग्रह हो चुकने पर सूरसागर-सारावली बनाई।

सूर का यह ग्रन्थ भी अनुपम है। शब्दों के गुम्फन में सूर ने जिस प्रकार इसमें सुन्दर भावों को सन्निहित किया है उसे चाहे कोई उच्चकोटि का साहित्य न माने या अधम कोटि के साहित्य में परि-

सूर के दृष्टि-कूट या साहित्य-लहरी

गणना करे किन्तु है यह है अनूठी चीज। इसमें यद्यपि वह माधुर्य, मार्दव एवं सौष्ठव नहीं है जो सूरसागर में दृष्टिगोचर होता है, किन्तु वैसी ही बहुत कुछ कलफ शब्दावरण को निकाल देने पर दिखाई देने लगती है, जैसे नारियल से नरेटी को पृथक कर देने पर पौष्टिक, सुस्वादु

एवं उज्ज्वल गरी सदुग्ध निकल आती है। कला-पक्ष तो इसमे प्रधान है ही, भाव पक्ष मे भी पूर्ण प्रबलता दिखाई देती है। इस ग्रन्थ पर किसी विद्वान द्वारा लेखनी चलाना ही उपयुक्त होगा। यहाँ केवल कुछ सरल उदाहरण इसी लिए दे रहा हूँ कि सूर-साहित्य पर लिखते समय साहित्य लहरी पर भी लिखना आवश्यक है। इसी कमी की पूर्ति करने के लिए मैने कुछ साहस किया है। यदि इस पर न लिखा जाय तो विषय-वर्णन अधूरा रह जाता है। पर इतना मै अवश्य कहूँगा कि इसमे भी कई पद ऐसे है जिनकी समता सूरसागर के सर्वोत्कृष्ट पदों से की जा सकती है। एक उपयोगिता इस ग्रन्थ की और हो सकती है। वह यह कि, यदि इसे कोई काव्य की, या काव्यानन्द की दृष्टि से न पढ़े तो न पढ़े, पर अपना साहित्यिक, शाब्दिक एवं सम्बन्धात्मक ज्ञान बढाने के लिए यह ग्रन्थ बडा उपयोगी सिद्ध होगा।

साहित्य-लहरी के संबन्ध मे मा० मिश्रजी का मत है कि उसमे दिये गये पद सूरसागर से ही लिये गये है और सूर-रचित है। इसमे सन्देह का कोई कारण नही दिखता। संग्रहकार अवश्य सूरदासजी नही हो सकते। संभव है, रहीम ने ही इस प्रकार के पदों को चुनकर अलग संग्रहीत किया हो, परन्तु इसका कोई प्रमाण नही है।

श्याम और राधा दोनो ने कुंज-भवन मे जाने का निश्चय कर लिया था। राधा तो पहुँच गई पर कृष्ण अभी तक नहीं आये हैं। राधिका बार-बार चिन्तित होकर उन्ही की प्रतीक्षा कर रही है। ऐसी अवस्था मे बडी विकलता होती है, जी बहुत चाहता है कि यह करूँ, वह करूँ, किन्तु उसका चित्त किसी ओर नही लगता। राधा भी प्रतीक्षा मे, क्षण-क्षण मे कभी अपने भूषणों को देखती है, कभी वस्त्रों को सँभा-लती है और दुःखी हो-होकर साँसे ले रही है। इसी पर एक सखी कहती है:—

"आज अकेली कुंज भवन में बैठी बाल बिसूरत ।
तरु-रिपु-पति-सुत की सुध साँची जान साँवरी मूरत ॥
दूर भूषण खन-खन उठाइ दै नीतन हरि घर हेरत ।
तनु अनुगामी मनि मै भैके भीतर सुरुच सकेरत ॥
ताहि-ताहि मम करि-करि प्यारी भूषन आनन माने ।
सूरदास वै जो न सुलोचन सुंदर सुरुचि बखाने ॥"

राधा और कृष्ण दोनों की युगल जोड़ी का वर्णन सूरदास-जी इस प्रकार करते हैं । एक सखी की दूसरी सखी से उक्ति है:—

"देखि सखी पाँच कमल द्वै संभु ।
एक कमल ब्रज ऊपर राजत, निरखत नैन अचंभु ॥
एक कमल प्यारी कर लीन्हें कमल सकोमिल अंग ।
जुगल कमल सुत कमल विचारत प्रीति न कबहूँ भंग ॥
पट जु कमल मुख मनसुख चितवन बहु विधि रंग तरंग ।
तिन में तीन सोम वंसी बस तीन-तीन सुक सीवज अंग ॥
जेइ कमल सनकादिक दुर्लभ जिनते निकसी गंग ।
तेई कमल सूर नित चितवत नीठ निरंतर संग ॥"

श्याम के विरह में एक बाला सखी से कह रही है—हे सखी, श्याम से प्रीति कर मैंने अपना जीवन व्यर्थ गँवाया । क्योंकि प्रेम होते तो हो जाता है, पर उसका छूटना असम्भव रहता है । इसी आग में वह भी जल रही है । शान्तिदायक जितने पदार्थ हैं वे भी आज उसे जला रहे हैं और इसका उस पर इतना प्रभाव पड़ा है कि उसे इस संसार से ही ग्लानि उत्पन्न हो रही है । उसे कुछ अच्छा नहीं लगता है । वह कहती है:—

"सजनी जो तनु वृथा गँवायो ।
नन्द नँदन ब्रजराज कुँवर से नाहक नेह लगायो ॥
दीध-सुतधर रिपु सहे शिलीमुख सुख सब अंग नसाये ।
शिव-सुत-वाहन-रिपु-सुत ते सब तन ताप तचाये ॥
घर आँगन दिसि विदिशि सूर जात वह मूरत देखी ।
सूरज प्रभु ते कियो चाहियत है निखेद विसेखी ॥"

सूरसागर

सूरसागर पर विवेचन करने के पहिले दो बातों पर प्रकाश डालना आवश्यक है । एक तो जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है, सूरसागर कोई प्रबन्ध-काव्य नही है, यद्यपि उसमें श्रीमद्भागवत की कथा कही गई है पर यह भागवत का अनुवाद नहीं है । इसलिए सूरसागर पर विचार करते समय हमें उसे प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये । कई समालोचक स्वयं उसे प्रबन्ध-काव्य मान लेते है और फिर यह कहते हैं कि इसमें कथा-प्रवाह नही अथवा स्थान स्थान पर रस विरस हो गया है । यह कहना अनुचित है । कोई भी काव्य केवल कथा-सम्बन्धी पद लिख देने से एवं उन्हें किसी समय क्रमवार कथा के अनुरूप जमा देने से ही प्रबन्ध काव्य नही कहला सकता । इसी दृष्टिकोण को रख सूर और तुलसी की आलोचना करते समय भी कई समालोचक यह कहते देखे गये है कि सूर मे तुलसी के समान कथा कहने की शैली ठीक नही है कथा-कथन की दृष्टि से सूर और तुलसी की तुलना करना ही विभिन्न प्राणियों को एक मानकर तुलना करना है । सूर ने स्फुट पद रचना की है अतएव सूर गीति-काव्य के रचयिता है, एवं उन पर इसी दृष्टि से विचार करना उचित एवं न्याय संगत है । कइयों ने इस भंग कथा-प्रवाह को मिश्री की डली में फाँस तक लिखा है ; परन्तु उन्हें यह ध्यान मे रखना चाहिये था कि सूरसागर एक जमाई हुई मिश्री के टुकडे कर

एक थाल में पृथक रखी हुई डलियाँ हैं। एक-एक डली का स्वाद लेने के लिए कुछ समय अवश्य चाहियेगा। यह फाँस नहीं है; बल्कि यह इसलिए है कि उस डली का पूर्ण स्वाद लिया जाय और उसकी पूरी मिठाई मुंह में समाप्त होने के पहिले ही दूसरी डली मुँह में पड़ जाय। वास्तव में इस आनन्दाधिक्य को यदि कोई फाँस कहे तो क्या कहा जाय। अतएव सूर की समता किसी से हो सकती है तो कबीर, विद्यापति या तुलसी के कुछ स्फुट काव्यों से हो सकती है। दूसरी बात यह है कि कई विचारक सूर के एक ही प्रकार के पदों को एक साथ सूरसागर में पाने के कारण यह कहा करते हैं कि उनसे जी ऊब जाता है। यह कहना भी अनुचित है, कारण कि जो वस्तु जिस उपयोग की है उसे उसी प्रकार से उपयोग में लाना ही बुद्धिमत्ता का काम है। सूरसागर से आनन्द उठाने के लिए या किसी भी काव्य से अलौकिक आनन्द प्राप्त करने के लिए भाव-मग्न होना ज़रूरी है। तुलसी के मानस के समान सूरसागर की भाषा भी ऐसी ही है कि थोड़े अभ्यास से और प्रचलित होने के कारण उसे साधारण जन भी पढ़ सकते हैं और उससे लाभ और आनन्द उठा सकते हैं।

इस विषय में भी विद्वानों का मत-भेद है कि सूरसागर के पदों का संग्रह स्वयं सूरदासजी ने किया है। कबीर के पदों, साखियों आदि के समान सूर के पदों का संग्रह भी शायद उनका नहीं है। स्फुट पद और एक ही भाव के विभिन्न पद यह स्पष्ट बताते हैं कि उनका उद्देश्य कोई काव्य-ग्रन्थ लिखने का नहीं बल्कि भगवान के समक्ष, वल्लभाचार्यजी की प्रेरणा से हृदयगत भक्ति का प्रदर्शन था। प्रतिदिन वे कई नवीन पद बनाते और नाच-गाकर भगवान के सामने सुनाते थे। और चूँकि सूरदासजी अंधे थे वे अपने पद अपने मस्तिष्क-पट पर ही अधिकांशतः लिखा करते। उनके पद या तो श्रोतागण सुनकर स्मरण

रखते रहे होंगे अथवा उनके साथी, मित्र उनके लिए लिख दिया करते होगे, अथवा वल्लभाचार्यजी ने ही कुछ प्रबंध कर दिया होगा। ऐसा भी कहा जाता है कि बाद मे महाकवि रहीम ने इनके पदों का संग्रह किया है। भक्तमाल आदि ग्रंथों से भी इसी कथन की पुष्टि होती है।

सूरसागर प्रथम स्कंध मे ३४ पृष्ठ हैं। इनमे कथा-भाग अत्यल्प है एव विनय-संबन्धी पदों की अधिकता है। इस स्कन्ध को हम सूर की 'विनय-पत्रिका' कह सकते हैं वैसे तो द्वितीय स्कन्ध में एवं अन्य स्कन्धों मे भी विनय-सम्बन्धी पद है, किन्तु विनय का जो लालित्य इसमे देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'विनय-पत्रिका' सदृश पद-लालित्य एवं दीनता-प्रदर्शन चाहे इसमे न हो किन्तु मार्मिकता, सहृदयता, भक्ति की भावना एवं व्याकुलता की इसमे कमी नही है। विनय-विभोर हो सूर ने जो भावों की सरिता बहाई है वह देखते ही बनती है।

सूरसागर के स्कन्धों का सक्षिप्त परिचय

द्वितीय स्कन्ध में ९ पृष्ठ है। प्रारम्भ में कुछ सरस एवं भाव-पूर्ण पद है; एवं अन्त मे नारद-ब्रह्मा-संवाद, २४ अवतारों का उल्लेख एवं ब्रह्मोत्पत्ति का वर्णन है। यह स्कन्ध प्रथम से छोटा ही नहीं है, वरन पद भी उसमे उतने उत्कृष्ट नही है। फिर भी कुछ पद उत्तम हैं और साहित्यिक भक्तों के लिए तो तीन चौथाई भाग ऐसा है, जिसमें उन्हे पर्याप्त आनन्द प्राप्त हो सकता है।

तृतीय स्कन्ध मे उद्धव-विदुर संवाद, मैत्रेय को कृष्ण का ज्ञान-संदेश, सनकादि अवतार एवं रुद्र उत्पत्ति वर्णन, सप्त ऋषि एवं चार मनुष्यो की उत्पत्ति की कथा, सुर-असुर उत्पत्ति, कपिल देव का जन्म-प्रसंग, कदर्भ-प्रसंग तथा देवहूति की माता का कपिल मुनि से प्रश्नोत्तर सम्बन्धी आख्यान हैं।

चतुर्थ स्कन्ध में आदिपुरुष एवं यज्ञ-पुरुष के अवतार के सम्बन्ध में, पार्वती विवाह, ध्रुव का आख्यान एवं भगवानावतार, पृथु अवतार, एवं पुरंजन की कथा दी हुई है।

पंचम स्कन्ध में ऋषभदेव अवतार वर्णन तथा भरत का आख्यान एवं उनकी माया आदि का वर्णन दिया गया है।

षष्ठ स्कन्ध में अजामिल उद्धार की कथा, इन्द्र द्वारा बृहस्पति का अनादर, वृत्रासुर का वध, इन्द्र का सिंहासन-च्युत होना एवं पुनः प्राप्त करना तथा गुरु-महिमा के संबंध का आख्यान है।

सप्तम स्कन्ध में नृसिंहावतार वर्णन, भगवान की शिव को सहायता तथा नारदजी की उत्पत्ति के विषय में कथा है।

अष्टम स्कन्ध में गज-मोचन की कथा, कूर्म अवतार समुद्र मंथन, मोहनी रूप धारण, वामन एवं मत्स्य अवतार कथाएं दी गई हैं।

नवम स्कन्ध में, पुरुरवा का वैराग्य-वर्णन, च्यवन ऋषि की कथा हलधर-विवाह, सौभरि ऋषि की कथा, गंगावतरण की कथा तथा परशुराम अवतार वर्णन के पश्चात विस्तृत रूप से राम-कथा कही गई है। अंत में राम-राज्याभिषेक के उपरांत शीघ्रता से इन्द्र का अहिल्या के प्रति दुराचार एवं गौतम का उनको श्राप, राजा नहुष को राज्य-प्राप्ति एवं इन्द्राणी से कामेच्छा, ब्रह्मा का शाप, संजीवनी विद्या सीखने के लिए शुक्र के पास प्रस्थान, उसकी मृत्यु एवं पुनर्जीवन तथा ययाति की कथा है।

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध में कंस-वध के पश्चात जरासंध का द्वारका आगमन एवं उस पर श्रीकृष्ण की विजय, कालयवन-दहन मुचुकुन्द उद्धार, द्वारका-सुषमा वर्णन, रुक्मिणी का पत्र, उसका हरण एवं विवाह, प्रद्युम्न-जन्म, मणि-प्राप्ति के लिए सत्यभामा एवं जामवंती से विवाह, शतधन्वा का वध, अक्रूर-संवाद, पंच पटरानी एवं अन्य सोलह सहस्र स्त्रियों से विवाह का संक्षेप में वर्णन, रुक्मिणि

भक्ति परीक्षा, उषा-अनिरुद्ध-विवाह, भौमासुर, द्विविद्व व सुतीक्ष्ण आदि का वध, नृग एवं पुंडरीक उद्धार, सांब विवाह, नारद के संशय की कथा, जरासंध-वध, शिशुपाल-वध, शाल्व एवं वल्वल-वध, सुदामा-दारिद्रय-निवारण, राधिकाजी से पुनर्मिलन एवं इन प्रसंगों के पश्चात् अंत मे नारद, वेद एवं ऋषियों की स्तुति दी गई है।

ग्यारहवें स्कन्ध में नारायण एवं हंसावतार की कथा है।

बारहवे स्कन्ध मे बुद्ध एवं कल्कि अवतार तथा राजा परीक्षित के हरिपद-प्राप्ति एवं जनमेजय की कथा कही है।

यह स्कंध समस्त अन्य रचना से लगभग चौगुना है। वस्तुतः सूरसागर का यथार्थ भाग यही है। इसकी गहनता, गंभीरता, विशालता, शक्ति, सामर्थ्य, एवं अलौकिकता आदि गुणों की गहराई नापना महा-

दशम स्कंध 'पूर्वार्ध'

काव्य आचार्यों का ही काम है। इस भाग में कितने रत्न, कितनी मणियाँ, कितनी निधियाँ अन्तर्हित हैं कौन कह सकता है। सृष्टि के आदि से, इस सागर से, मानव समुदाय अपने हितार्थ मणि, मुक्ता, रत्नादि निकालता आ रहा है। अब भी जैसे-जैसे इसकी खोज होती जाती है, वैसे-वैसे इसके अनेक रत्न प्राप्त होते जा रहे है फिर भी इसकी गहनता के कारण बहुत कम काव्य-पारखी इससे रत्न प्राप्त कर सकते है। पर यह महा-सागर किसी को निराश नही करता। जो इससे याचना करता है वह अलौकिक निधि प्राप्त करके ही वापिस लौटता है। यह मानव-हृदय का जीवन प्रदाता है और कभी मानव-समुदाय को रस की कमी न होने देगा।

विश्वामित्र ने तो सृष्टि-रचना आरम्भ ही की थी। उसके अवशेष चिन्ह भी हम नही पाते, पर सूर की यह सृष्टि तो अमर है। नदी, पर्वतों से भी अमर। इस अमर साहित्य मे सूर ने मानव-जीवन

के कितने महत्त्व-पूर्ण अंग ठूँस-ठूँस कर भर दिये हैं। भाव-पक्ष का जैसा हृदयग्राही समर्थन इसमें हमें मिलता है वह एक-आध महाकवि को छोड़ अन्यत्र दुर्लभ है। एक ओर से दूसरी ओर महासागर में उतरते जाइये और आनन्द उठाते जाइये। बाल-क्रीड़ा का जैसा अलौकिक वर्णन, प्रेम का जैसा उज्ज्वल परिपाक, चित्तवृत्तियों का जैसा चातुर्य-पूर्ण चित्रण, भक्ति की जैसी अनन्यता, काव्यानन्द की जैसी माधुरी, काव्य में मधुर संगीत का जैसा समन्वय, निर्मल भावों की जैसी अनवरत बहनेवाली धारा, सरसता की निर्झरणी, भाषा की जैसी प्रसादता एवं प्रवणता, रचना का जैसा सौकर्य एवं माधुर्य, वर्णन शैली, भाव-चित्रण की यथार्थता, सत्यता एवं दिव्यता इसमें देखने को मिलती है, वह अवर्णनीय है।

कवि कोई व्यक्ति स्वभावतः ही होता है। तात्कालीन परिस्थितियाँ भी उसे पैदा करती हैं; उसका पालन-पोषण करती और शक्ति-संपन्न होने पर उसे इस संसार-सागर में छोड़ देती हैं जहाँ वह अपने बाहुबल से, मस्तिष्क-बल से, इस सागर में हाथ-पैर फटकारता हुआ, इसे मथता हुआ अंत में किसी एक किनारे पर लग जाता है। जब तक वह किनारे पर नहीं पहुँचता बराबर प्रयत्न करता रहता है। इस समय यह अवश्य है कि यदि वह समुद्र के मध्य में हो या तट से दूर हो तो अनन्त आकाश ही उसकी अवलोकनीय वस्तु रहती है। वह उसकी ओर देख सकता है किंतु उसे अपना यह लक्ष्य नहीं भुला देना चाहिये कि इस संसार-सागर से तैरकर उस पार पहुँचना है। इस सागर-संतरण में जो शक्ति-रहित होते हैं वे इसी में उतराते, बहते और पार नहीं पाते हैं और अंत में यह सागर उन्हें सदा के लिए अपनी गोद में ले लेता है। पर जो इस सागर को पार कर जाता है, वह प्रकृति माता से अमर जीवन का पुरस्कार पाता है। वह इस नश्वर संसार में, अपर्कीर्तित

और विलोडित संसार में सम्मानित होता है। पर अमरत्व-प्राप्ति के लिए अमर भावनाओं, अमर अनुभूतियों, अमर और अमिट स्पंदनों और कंपनों की आवश्यकता होती है। जो कवि इनको प्रश्रय देता, अपने हृदय को इनके रंग मे रंगता है वही हृदय की इन अमूल्य और अलौकिक विभूतियों को प्राप्त करता है। सरस्वती माता का वरद हस्त उसी के मस्तक को सुशोभित करता है। वह मर-मिटकर, आपत्तियों की गोद मे पलकर, अवहेलना के तूफानों से टकराकर भी अपना सिर सदा के लिए ऊँचा रख जीता है।

कवि-हृदय एक चलनी के समान है या स्वयं कवि बनने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति अपना हृदय वैसा बना लेता है। इस चलनी मे संसार की विभिन्न घटनाएँ अनेक सामग्री के रूप मे समय-समय पर पडा करती हैं। प्रत्येक सामग्री जो वह चलनी प्राप्त करती है उसमे का कूडा-कर्कट तो स्वयं धारण कर लेती है और सार, उत्तम एवं शुद्ध वस्तु हमे प्रदान करती है। यदि वह चलनी जो कुछ प्राप्त करती है उसे वैसा ही लौटा दे या उसमे सार वस्तु के साथ कूडा-कर्कट भी नीचे गिर जाने दे, तो हम कह सकते है कि वह सदोष है। यह दोष यदि अत्यल्प मात्रा मे हुआ तो क्षम्य और अलक्षित-सा रहता है; किन्तु अधिक मात्रा मे हुआ तो अग्राह्य और त्याज्य हो जाता है। कवि-हृदय भी इसी प्रकार संसार के आघातों को वहन करता रहता है और संसार को अत्युच्च, मधुर, मृदुल-सार वस्तु प्रदान करता है। यदि वह संसार को उसके उसी प्राप्त रूप मे भेंट कर दे तो उसकी 'विशेषता' नहीं, महानता नहीं। उसे विकृत कर दे, सदोष बना दे तो यह उसका अधर्म है। कवि-हृदय के छिद्र जितने सूक्ष्म और अधिक होंगे, उतनी ही उत्तम वस्तु वह संसार को दे सकेगा। जितने उसकी प्रतिभा के तार सूक्ष्म होंगे उतना ही मनोहर वह पदार्थ होगा।

इस प्रकार का पदार्थ— काव्य—भी अलौकिक ही रहता है। सुषुप्त मानवात्माओं को जागृत कर सकता है। मृतात्माओं में जीवन डाल सकता है। नश्वर भौतिक शरीर को अमर बना सकता है। गिरे हुए राष्ट्रों को उन्नत और निर्धन राष्ट्रों को सम्पन्न बना सकता है। वह सगर-पुत्र मन्दाकिनी की एक ऐसी निर्मल धारा प्रवाहित कर देता है, जिसका पवित्र जल चिरकाल तक ही नहीं सृष्टि के अन्त तक काव्य-पिपासुओं की प्यास शान्त करता रहता है, यही एक ऐसी कसौटी है जिस पर हम किसी देश की सभ्यता, आचार-विचार गुण-गौरव आदि को कस सकते हैं। किन्तु ऐसे काव्य का सृजन करना भी कोई हँसी-खेल नहीं है। इस पर तो उन इनी गिनी कतिपय महान आत्माओं का ही अधिकार है जो ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा को लेकर उत्पन्न होते हैं और गुरु अथवा संसाररूपी सुगुरु से शिक्षा ग्रहण कर अपने व्यक्तित्व, प्रतिभा और प्रभाव से उस समय के वातावरण को विलोडित कर या तो बवंडर उत्पन्न करते या सरस मंदाकिनी को प्रवाहित कर देते हैं।

रस काव्य की आत्मा, भाषा उसका शरीर, भाव-विभाव उसके विभिन्न अंग एवं अतर्प्रवृत्तियों का निवास-स्थल ही उसका प्राण-प्रदेश है। व्यञ्जना उसका मुँह एवं अलंकार उसके भूषण हैं। ज्ञान एवं अनुभव उसके चिरकाल तक साथ देनेवाले सहचर मित्र एवं सहायक हैं। उसका सर्वांगीण एवं समुचित विकास ही उसकी सर्वोत्कृष्टता है। उसके प्राण कल्पना के अनन्त आकाश में चाहे विचरण कर आयें, किन्तु उन्हें रहना इसी लोक में होगा।

सभी कवियों में प्रतिभा भी एक समान नहीं होती। कुछ कवियों में तो सर्वतोमुखी प्रतिभा पाई जाती है और भाषा पर भी उनका अगाध अधिकार रहता है जिनके द्वारा वे कविता-कामिनी ही को नहीं, वरन लोक-भावना को भी हस्तगत किये रहते हैं। कुछ में विशेष विषयों

के वर्णनों की ही प्रतिभा एवं समता रहती है। कई ऐसे कवि रहते है, जिनमे प्रतिभा तो पूर्ण रहती है किन्तु वे अपनी वृत्तियों को केवल कुछ विषयो के वर्णन मे तल्लीन कर देते है।

सूर की भाषा उस समय की चलती ब्रजभाषा है, जिसमे साहित्यिक भाषा का भी पूरा परिपाक हुआ है, यद्यपि कही-कहीं एक-दो अरबी-फारसी के शब्द भी मिलते है। जो ऐसा मालूम होता है,

सूर की भाषा

इतने प्रचलित हो गये थे कि सूर ने उनका हटाना उपयुक्त न समझा होगा। वे शब्द भी ब्रज-भाषा की माधुरी से युक्त हैं। सूर ने चुने भी ऐसे ही शब्द हैं। समस्त सूर-साहित्य मे निम्नलिखित दो पद ही ऐसे हैं, जो विशेष रूप से आकृष्ट करते है। वे ये है—

"सांचो सो लिख हार कहावै।
काया ग्राम मसाहत करि कै जमा बाँधि ठहरावै॥
मन यह तो करि कैद अपने मे ज्ञान जहतिया लावै।
मांडि-मांडि खरिहान क्रोध को पोता भजन भरावै॥
बट्टा काट कसूर मर्म को फरद तलै लै डारै।
निश्चय एक पै राखै टरै न कबहूँ टारै॥
करि अवारजा प्रेम प्रीति को असल तहाँ कतियावै।
दूजो फरद दूरि करि है यत नेकत तामैं आवै॥
मुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल का हरिसों तहँ लै राखे।
निर्भय रूपै लोभ छाँडि कै सोई वारिज राखे॥
जमा-खर्च नीके करि राखै लेखा समुझि बतावै।
सूर आप गुजरान मुसाहिब लै जवाब पहुँचावै॥"

दूसरा है—

"प्रभु जू मैं ऐसो अमल कमायो।
साबिक जमा हुती जो जोरी मिन जालिक तल लायो॥

बासिल बाकी स्याहा मुजमिल सब अधर्म की बाकी।
चित्रगुप्त होत मुस्तौफी शरण गहूँ मैं काकी॥
पोच मुहर्रिर साथ करि दीने तिनकी बड़ी बिपरीत।
जिम्मे उनके माँगे मोते यह तौ बड़ी अनीति॥
पाँच पचीस साथ अगवानी सब मिलि काज बिगारे।
सुनी तगीरी मेरी बिसर गई सुधि मो तजि भये नियारे॥
बढ़ो तुम्हार बरामद हू को लिखि कीनो है साफ।
सूरदास की यहै बीनती दस्तक कीजै माफ॥"

उनके साहित्य में इन दो पदों के, जिनमें अरबी-फारसी का शब्द-बाहुल्य है, प्राप्त होने से हम यह नहीं कह सकते कि सूर का इन भाषाओं पर कितना अधिकार था? यह तो स्पष्ट ही है इनमें उक्त भाषाओं के शब्द ऊपर से ही जड़े हुए प्रतीत होते हैं और सूर ने किसी समय इन पदों को मौज में आकर लिख दिये हैं। सूर की भाषा साहित्य-लहरी को छोड़कर सर्वत्र प्रसादगुण सम्पन्न है। जनता में जो कुछ समय तक यह बात फैली हुई थी कि सूर को समझना कठिन है, वह केवल भ्रम था जो कदाचित सूरसागर को एक विस्तृत एवं विशाल ग्रन्थ देखकर इसे न पढ़नेवालों ने फैला दिया हो, नहीं तो सूर की भाषा रामचरितमानस की भाषा से सरल है, कबीर की अक्खड़ और दुरूह भाषा से मधुर, शीघ्र समझ में आनेवाली है। सूरसागर का प्रचार कम होने का कारण और उसके विषय में भ्रमात्मक विचार रखना उसकी विशालता के कारण ही हुआ, क्योंकि लोगों ने उसे आद्यन्त पढ़ने का कष्ट न उठाया। सूर की भाषा में भाव तुलसी के समान, माधुर्य विद्यापति के समान एवं कथन-शैली कबीर के समान है। प्रवाह भी उसमें पूरा-पूरा है; किन्तु एक खटकनेवाली बात यह है कि पदों की प्रथम पंक्तियों में भावों की जितनी व्यंजना, प्रवाह, सजीवता और गति-

शीलता रहती है उतनी अन्त में या अन्त की दो पंक्तियों में नहीं। कुछ पदों मे अवश्य अन्त तक एक ही सा निर्वाह हुआ है।

सूर ने अपनी समस्त रचना पदों मे ही की है। इसी लिए उनके काव्य को गीति-काव्य कह सकते हैं। इसकी यही विशेषता है कि कवि अपने मनोनीत समस्त भावों को कुछ ही पंक्तियों में सीमा-बद्ध करके रख देना चाहता है। इसलिए जितने अधिक एक साथ उठनेवाले भाव हो सकते है, उन्हे वह उसी एक पद के दायरे मे बंद करता है। जितना सौष्ठव, मार्दव एवं माधुर्य वह लाना चाहता है, उस एक ही पद की डिबिया मे बंद कर देता है। इसी लिए चरित्र-चित्रण का विकास हमे पद-शैली मे प्राप्त नहीं होता। पद-शैली की विशेषता भी यही है कि वह गागर मे सागर भर दे। परिणामतः सूर के समस्त पद गेय और पूत भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। एक ही पद मे वह अनूठी उक्ति, वह अनुपम प्रवाह, वह सरस विचार-मंदाकिनी, वह उच्चकोटि का कवि-कौशल, वह अंतर्प्रवृत्तियों का समन्वय एवं वैषम्य देखने को मिलता है जो पृष्ठ के पृष्ट पढ़ जाने पर भी प्राप्त नहीं हो सकता। एक पद ही अपने मे पूर्णता को पहुँचा रहता है, यद्यपि समस्या-पूर्त्ति के कवित्त, सवैयों की अंतिम पंक्तियों के समान पद की प्रथम पंक्तियाँ भी बहुत ही उन्कृष्ट हुआ करती है। अतएव सूर की शैली पर विचार करते समय हमे सूर के एक-एक पद पर विचार करना चाहिये। और कई एक पदों मे उन्हीं विचारों की पुनरुक्ति-सी देखकर चौंकने की आवश्यकता नहीं। फिर भी सूर की रचना की यह विशेषता है कि वे ही भाव यद्यपि एक बार से अधिक आते हैं, पर उनमें कहीं शिथिलता का नाम नही; प्रत्युत उत्तरोत्तर आनंद की वृद्धि ही होती जाती है। पदों को यदि कोई एक साथ भी किसी कथा-ग्रंथ के समान पढ़ता जाय तो भी वे अरुचिकर प्रतीत नहीं होंगे, कारण कि एक पद

सूर की शैली

के पढ़ने से हमारी तृप्ति नहीं होती और यही इच्छा होती है कि इस रस का और-और आस्वादन करते जायँ। तृप्ति होने का अवसर आने ही नहीं पाता कि सूर दूसरा प्रसंग छेड़ देते हैं और हमारा हृदय दूसरी भावनाओं के आ जाने से अतृप्ति की आकांक्षा प्रकट करने लगता है।

विषय की वर्णन-शैली सूर की यह है कि वे पद की प्रथम पंक्ति में एक अनूठी बात कह देते हैं और अन्य पंक्तियों में उस भाव का विकास उत्तरोत्तर करते जाते हैं। यदि वह भाव अत्यंत ही अतुलनीय हुआ तो फिर सूर चाहे उसका विकास न करें; किंतु उसमें शिथिलता न आये ऐसा प्रयत्न करते हैं। अंत की पंक्ति में कभी-कभी किसी-किसी पद में इसका अपवाद समझना चाहिये। वैसे देखा जाय तो सूर ने श्रीमद्भागवत की कथा बारहों स्कंधों में कही है पर उनका उद्देश्य कथा कहने का नहीं था। सूरसागर उनके समय-समय पर रचे हुए पदों का क्रम-बद्ध संग्रह है और संग्रह करते समय जो कथा छूट गई होगी, उस कथा को उन्होंने बाद में लिख दिया है। जो कुछ भी कथा कही है, उसका ढंग यही है कि किसी एक पद में वे उसे वर्णन करते हैं और फिर उसी विषय के और छंद कहते जाते हैं। वर्णन करते समय उनका उद्देश्य कथा कहने का नहीं रहता। उनके मन में जो भाव उदय होते हैं, या जिनका वर्णन करना उन्हें अभीष्ट होता है वे ही विषय वे रखते हैं; अन्य बातों से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं।

सूर का भाव-पक्ष बड़ा ही प्रबल है। सूर ने विनय-संबंधी पद भी विशेषतः प्रथम एवं द्वितीय स्कंधों में कहे हैं और तुलसी के समान उनमें भी पर्याप्त मात्रा में दैन्य और भक्ति प्राप्त होती है, पर शृंगार एवं वात्सल्य पर उनका अगाध अधिकार स्वीकार करना पड़ता है। तुलसी यदि चाहते तो ऐसी रचना करने में समर्थ हो सकते थे; किन्तु हमें तो जो रचनाएँ हमारे समक्ष

---

[1] सूर द। भाव-पक्ष

हैं उन्हीं पर विचार करना है। इस दृष्टि से इस विषय पर तुलसी ने अधिक नही लिखा है, जो लिखा है वह भी सूर की कोटि के समकक्ष ही है। पर सूर वास्तव में सूर है। जो कुछ उन्होंने लिखा है वह इतना पूर्ण है कि उस विषय पर अन्य रचनाएँ हल्की मालूम पडती हैं। इसे सभी विद्वान् मानते है। सूर ने जीवन की सभी बातों पर प्रकाश नही डाला है, पर जितने पर डाला है उसका 'रिकार्ड' कोई भी, किसी भाषा का कवि भी, उस विषय मे प्रस्तुत नही कर सका। वात्सल्य और शृंगार के मंजुल भावों की जो व्यञ्जना सूर मे मिलती है, वह अन्यत्र मिलना दुष्कर है। उनके दैन्य-संबंधी पद भी अनोखे और अनुपम ही है। वियोग-वर्णन मे सूर की वृत्तियाँ कितनी गहनता से तल्लीन हुई है, यह सहृदय विद्वान पुरुष ही जान सकता है। भ्रमरगीत की तुलना तो तत्संबंधी किसी भी काव्य से नही हो सकती। नंददास के भ्रमर-गीत भी सुंदर, भाव-पूर्ण और सरस है किंतु उनका यह गुण केवल छोटी, थोडी रचना होने के कारण ही सूर से अधिक अच्छा जँचता है; किंतु सूर ने जितने मनोभावो का चित्रण किया है, उसका अल्पांश भी उसमें प्राप्त नही होता है। 'रत्नाकर'जी का उद्धव-शतक भी उत्तम काव्य है। उसमे मंजुल व्यञ्जना है, पर सूर की गंभीर हृदयगत एवं मानसिक विवेचना उसमे कहाँ?

यद्यपि सूर की भक्ति सख्यभाव की कही जाती है; किन्तु उनके विनय-सम्बन्धी पद देखकर, जो दैन्य भाव से परिपूर्ण है, यह नही कहा जा सकता। स्थान स्थान पर उन्होंने दास्य भाव प्रकट किया है। कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के वर्णनों को छोडकर जहाँ कही भी प्रसंग आया है, उन्हे सूर ने उपास्य देव कहकर ही प्रकट किया है। कही वे कहते हैं, "प्रभुजी हौ पतितन कौ टीकौ।" कही कहते है, "हौ तो पतित-शिरोमणि माधो।" "हरि हौं सब पतितन पतितेश।" "नाथ, सको तो

मोहि डचारी।" आदि-आदि। इन तथा इस प्रकार की अन्य पंक्तियों को लक्ष कर एवं विनय-पत्रिका से तुलना कर कौन कह सकता है कि सूर में भी तुलसी के समान दास्य भाव नहीं है। इस भाव की कोई ऐसी मनोवृत्ति नहीं है जिसे सूर ने छोड़ी हो।

श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक का सूर ने बड़ा ही मनोहर चित्र खींचा है। बालकृष्ण का पलने में पौढ़कर हाथ-पाँव हिलाना, उसे देखकर इन्द्रादि का भयभीत होना। इससे यह भी प्रकट होता है कि तुलसी को जो यह दोष दिया जाता है कि वे कथा-प्रवाह के मध्य में भी राम को अवतारी पुरुष कहकर विरसता ला देते हैं, अन्य कवियों को इस दोष से मुक्त बताते हैं, यह निरर्थक है। सूर-सा खरी-खरी कहनेवाला और स्वाभाविक वर्णन करनेवाला भी यह नहीं भूलता है कि पलने में पड़ा हुआ नन्हा-सा बालक भी अवतारी पुरुष है। यही बात प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कुछ न कुछ अंश में ब्रज-बालाओं के, राधा के शृंगारिक प्रेम एवं वियोग-वर्णन तथा भ्रमरगीतों में भी देखने को मिलती है। जब कृष्ण कुछ बड़े होते हैं और देहलीज के बाहर आने लगते हैं, उस समय का वर्णन भी उत्कृष्ट और स्वाभाविक है। उनका गो चारण, और ग्वाल-बाल-प्रीति भी सराहनीय है। आगे जाकर उनका ब्रजबालाओं के प्रति जो व्यवहार है, प्रेम क्रीड़ा है वह सुन्दर, मधुर, सरस, अलौकिक, आनन्दमय भावविभोर करने वाली एवं विदग्धता से भरी हुई अवश्य है, पर उसमें कई स्थलों पर विद्यापति के समान अत्यधिक अश्लीलता आ जाती है, जिसका प्रभाव परवर्ती कवियों पर अच्छा नहीं पड़ा। सूर ने तो इस धोखे-से कलंक का परिहार ब्रज-वनिताओं का वियोग वर्णन कर एवं भ्रमरगीत सदृश उपालंभ काव्य लिखकर कर दिया है, पर दूसरों में सूर की क्षमता न थी और इसी लिए उन्हें उलटी मुँह की खानी पड़ी। इन्हीं प्रसंगों के बीच

सूर ने श्रीकृष्ण के रूप का भी बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। नख-शिख-वर्णन भी उनका बहुत अच्छा है। मुरली पर तो उनकी उक्तियाँ अनूठी ही हैं। सूर ने जिस प्रकार बालकृष्ण का वात्सल्य-पूर्ण और युवा कृष्ण का शृंगारिक प्रेम से ओत-प्रोत वर्णन किया है, उसे चरम सीमा पर उन्होंने वियोग-वर्णन और भ्रमरगीत मे पहुँचा दिया। कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म ऐसा भाव नही जो सूर की दृष्टि से ओझल हो गया हो। सूर अपने विषय के पंडित हैं। जिन विषयों को चाहे वे मानव-जीवन के कुछ ही भागों के क्यों न हों—उन्होंने उठाया है उन्हे अन्तिम सीमा पर ला रखा है। उसमे अच्छा, सुन्दर, अनूठा, सरस, स्वाभाविक और सच्चा वर्णन और कोई नही कर सका है।

सूर का कला-पक्ष

कला-पक्ष में भी सूर का वही स्थान है जो भाव-पक्ष मे है। पदावली उनकी कोमल और सरस है और विद्यापति की पदावली से अधिकाश रचना की समता की जा सकती है यद्यपि सानुनासिक शब्दों का माधुर्य उतना नही है। समस्त रचना कूटों को छोडकर प्रसाद गुण-सम्पन्न है। वह लक्षणा और व्यञ्जनादि से पूर्ण परिवेष्ठित और प्राजलित है। उपमा और रूपक तो प्रत्येक पद मे प्रचुरता से पाये जाते है। "काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल" सदृश रूपक-वाले पद सूर और तुलसी ही मे प्राप्त हो सकते हैं। उत्प्रेक्षाएँ भी सूर ने अच्छी कही हैं। किंतु कल्पना अनोखी और ऊँची है, पर हर एक स्थान पर जहाँ सूर ने उत्प्रेक्षा-वाचक 'मानो' आदि शब्द प्रयुक्त किये है, उत्प्रेक्षालंकार मानना भ्रम-मूलक हो सकता है। अन्य अनेक अलंकारों का समावेश भी समुचित रूप से हुआ है। स्वाभावोक्ति तो उनकी समस्त रचना की, और व्यंग्य भ्रमरगीत की मुख्य विशेषताएँ है। यहाँ यह भी नहीं भूल जाना चाहिये कि उनका समस्त काव्य संगीतमय है।

यद्यपि सूरसागर में सूर ने श्रीमद्भागवत की संपूर्ण कथा लिखने की चेष्टा की है; किन्तु यह तो सर्वमान्य है ही कि उनका उद्देश्य कथा कहने का नहीं था और न उनकी वृत्तियाँ ही कथा-वर्णन में रंगी थी। वे तो सरस गायक थे। कृष्ण के सहृदय भक्त थे। सच्चे कवि थे। उन्हें कथा से क्या प्रयोजन? कथा कहना तो अपने विचारों को, भावों को प्रकट करने का वे साधन समझते थे। इसी भावोद्रेक में उन्होंने कृष्ण, नन्द, माता यशोदा, उद्धव तथा ब्रजबालाओं के चरित्र को सरस, भाव-पूर्ण और हृदयग्राही चित्रित किया है। सूरसागर कथा-ग्रन्थ होते हुए भी कथा नहीं है। फिर चरित्र-चित्रण कैसा? यह प्रश्न किया जा सकता है। पर समस्त सूरसागर सहृदयता के साथ, भावुकता के साथ पढ़ जाने के बाद, सूर को समझ जाने के बाद यह बात निर्विवाद हृदयंगम हो जाती है कि सूर के उपस्थित किये हुए चित्र मार्मिक हैं, एक प्रवाह को लिये हुए हैं। उनमें विशिष्ट व्यक्तियों को पूर्ण स्वाभाविक रूप में चित्रित किया गया है। सूरसागर महाकाव्य नहीं, स्फुट काव्य है। तुलसी के सदृश कथोपकथन के द्वारा खड़े किये हुए पात्रों की सरस जीवन-घटनाओं से ओत-प्रोत है। अतएव एक साहित्यिक के लिए सूर के जीवित चित्रों में पर्याप्त रूप से ऐसी सामग्री है कि जिससे वह आनन्द-विभोर हो अपना मनोरंजन कर सकता है। उनका एक-एक पात्र अपनी विशिष्टता लिये हुए है।

सूर का
चरित्र-चित्रण

सूर के कृष्ण अवतार हैं। राम की भाँति उनका जन्म भी भू-भार उतारने के लिए हुआ है। उन्होंने पूतना, कंस आदि का वध भी किया है; किन्तु इसके उन हितकारी रूप पर सूर ने कुछ ध्यान नहीं दिया, क्योंकि सूर के कृष्ण तो आनन्दातिरेक की मूर्ति हैं; प्रेम के प्रतीक हैं। वे अपनी स्वाभाविक क्रीड़ा से माता-पिता को, यशोदा और

नन्द को ही नही, प्रत्येक माता-पिता को अलौकिक आनन्द देनेवाले हैं। सूर कृष्ण के जीवन मे देखते भी यही है। वे यथार्थतः पुत्र तो वसुदेव-देवकी के है, पर माता-पिता कहलाने का गौरव, उन पर ममता प्रदर्शित करने का श्रेय मिलता है नन्द और यशोदा को। भारतीय साहित्य की यही तो विशेपता रही है कि यहाँ साम्य मे वैषम्य एवं वैपम्य मे साम्य की उद्भावना की जाती है। कृष्ण का विशाल चरित्र भी इसी की शिक्षा देता है। ज्यो-ज्यों वे बड़े होते जाते हैं, वे पड़ोस के लोगों का भी चित्त चुराने लगते है। प्रत्येक नर-नारी उनकी रूप-माधुरी पर, उनकी अलौकिकता पर मुग्ध है। प्रेम की यह परिधि दिन-दिन बढती जाती है। और कृष्ण उत्पाती और माखन-चोर के रूप मे दिखाई देते हैं। अवतार होते हुए भी नर-चरित्र कर रहे हैं। व्रज-वसुधा को आनंद देते हुए दिखाई देते है। जबसे वे पैदा हुए है, तभी से यही हाल है। लोक-रंजनता के न देखनेवाले विचार करें कि सूर ने उसका कितना ध्यान रखा है। एक क्षण भी कोई ब्रजवासी आनंदाधिक्य से मुक्त नहीं होता है। फिर कृष्ण और बडे होते है और शृङ्गार के आलम्बन के रूप मे हमे दिखाई देते है। यह अवस्था भी बडी मादक है। सूर ने यद्यपि इस अवस्था का उद्भव कुछ शीघ्र कर दिया है, पर हमारी समझ से उनका ख़याल भी १२ से १८ वर्ष तक की अवस्था का ही रहा होगा। इस अवस्था मे बडी अद्भुत बेचैनी का अनुभव होता है—पुरुप ही को नही स्त्रियों को भी। यह अवस्था प्रौढ़ा स्त्रियो पर भी मोहिनी डालने के लिए पर्याप्त है। भीगती मसो को देख उनका हृदय पंचशरों से बिद्ध होने लगता है। उन्हे अपनी पूर्व स्थिति की मृदुमय स्मृति विह्वल बनाने लगती है। इस समय समवयस्का भोली बालाएँ तो स्वयं भी बेचैन रहती और उसी बैचैनी मे सुखानुभव करती है; पर इस अवस्था से जन्य आनन्द उठा नहीं सकतीं। उत्पाती कृष्ण अब अपनी नई-नई सूझों से बालाओं को ही तंग—विशेप आनन्दमय अर्थ में—

नहीं करता, पड़ोसियों को भी तंग करता हुआ दिखाई देता है। माता यशोदा के समक्ष अब माखनचोरी के उलाहने का क्रमशः अर्थ हो गया है। पहिले की माखनचोरी में और इस माखन-चोरी में आकाश-पाताल का अन्तर है। यह गो-रस (गो = इन्द्रिय) चोरी है। अब इसी का बाजार गर्म है। इसी हेतु कहीं किसी के सूने गृह में पहुँचते, कहीं दान माँगते और कहीं चीर-हरण करते हैं। यदि सूर इतना ही कहकर चुप रह जाते तो अवश्य उनके सिर भी अश्लीलता का दोष मढ़ा जाता। पर सूर वहाँ भी पहुँचे हैं, जहाँ कोमल मर्मस्थल है। सूर ने वियोगावस्था का भी बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है। यहाँ कृष्ण को हम मथुरा में पाते हैं। विशेषतः जिस कार्य के लिए उनका अवतार हुआ उसकी पूर्ति हो जाती है; पर सूर को इससे क्या? वे तो यहाँ से हटाकर कृष्ण को गोपियों के हृदय में 'ठेढ़े गड़े हुए' दिखाते हैं। कृष्ण का रूप देखने के लिए अब हमें वहीं चलना चाहिये। वे उद्धव का ज्ञान-गर्व हटाने एवं ब्रजबालाओं को कुछ सान्त्वना देने, उद्धव के द्वारा संदेश भेजते हैं। इसीके साथ हमें कृष्ण का वह मनोमुग्धकारी रूप भी दिखाई देता है जब वे अपनी 'धौरी-पीरी गैयों' का, ब्रजनागरियों का सकरुण हो स्मरण करते हैं।

ब्रजबालाएँ

ब्रज-वधुएँ भोली-भाली रसवती स्त्रियाँ हैं। कृष्ण जन्म पर इन्हें बड़ा आनन्द होता है। वे कृष्ण की रूप-माधुरी पर मुग्ध हैं। बार-बार नन्द के यहाँ बालकृष्ण को देखने के लिए आती हैं। आनन्द-बधावे गाती हैं। उनके बड़े होने पर उत्पात करने पर बना-बटी उलहने लाती हैं, ताकि श्रीकृष्ण को एक बार और देख सकें। श्रीकृष्ण के कुछ बड़े होने पर वे उनके साथ शृंगारिक प्रेम में उन्मत्त-सी बनी रहती हैं। उन्हें देखे बिना, उनसे मिले बिना उन्हें कुछ अच्छा ही नहीं लगता; किन्तु उनका सच्चा प्रेम तो

तब देखने को मिलता है, जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं। अब उन्हें कुछ नहीं सुहाता। वनों वनों मे मारी-मारी फिरती है, कोई कुएँ पर जाती है तो वही बेसुध होकर बैठ रहती है और घर आने पर सास-ननद की डॉट-फटकार सुनती है। नदी का नहाना, कुञ्जों मे आनन्द के साथ क्रीडा करना सब अब बीते दिन की बाते हो गईं। खाना-पीना दूभर हो गया। घर मे उठना-बैठना तक अच्छा नही लगता। कृष्ण का प्रत्येक क्रीडास्थल उन्हें काट खाने लगा। श्यामवर्ण अक्रूर के द्वारा कृष्ण का लिवा ले जाना उन्हें बुरा लगता ही था कि उसी वर्ण के उद्धव महाराज अपनी 'निर्गुण की गॉठ' लेकर ब्रजवनिताओं के हृदय से 'बनिज' करने के लिए आ पहुँचे और उन्हें निर्गुण परमात्मा का उपदेश देने लगे। पर इसका भोली-भाली ब्रजवनिताओं पर क्या प्रभाव पड सकता था। उनका मन तो श्रीकृष्ण के साथ पहिले ही मथुरा चला गया था। कोई 'दस-बीस मन' तो थे नही। कृष्ण फिर हृदय मे 'टेढ़े होकर गड गये'। सीधे गडे होते तो निकल सकते थे। वे पहिले से ही अपने दुःख की मारी मर रही थी; उद्धव का आना तो और भी दुःखप्रद हो गया। मरे को मारे शाह मदार! पर जब कोई अत्यन्त दुःखी हो और दूसरा कोई अटपटी बात कर दे तो हँसी आ जाती है। बस यही दशा ब्रज की स्त्रियों की है। बार-बार उद्धव से अपनी दशा कहने पर भी जब वे निर्गुण का उपदेश अपनी धुन मे देते चले जाते है तब उन्हे हँसी आ जाती है। उन्हे 'काले की करतूतों' का खूब अनुभव था। कृष्ण काले थे, अक्रूर काले थे और उद्धव महाराज भी कृष्णवर्ण ही थे। भला इनकी उन्हे क्यों प्रतीति होने लगी। अन्त तक उनका यही आग्रह रहता है कि हमे तो कृष्ण का सगुण रूप दिखाओ। बार-बार वे पपीहे से, कोयल से कृष्ण को संदेशा भेजकर मथुरा से गोकुल आने की प्रार्थना करती हुई दिखाई देती है। कुब्जा के प्रति भी उनकी कुछ कुढ़न है। उन्हें बार-बार रीझी आता है

कि कृष्ण कहाँ तो हमारे साथ इतने समय तक प्रेमालाप करते रहे और कहाँ अब कुब्जा को प्रेम-पीयूष पिला रहे हैं। इस प्रेम का कुब्जा को भी बड़ा गर्व था जैसा कि उसके संदेशे से, जो उसने उद्धव के द्वारा गोपियों को भेजा था, प्रकट होता है।

नन्द का चरित्र बहुत कुछ यशोदा के चरित्र में सन्निहित-सा है। सूर ने उनके चरित्र की विशद व्याख्या नहीं की है। जननी यशोदा का चरित्र पूर्ण मातृत्व लिये हुए है। वे जानती हैं कि कृष्ण मेरा उदरजात पुत्र नहीं है फिर भी उन पर उनका अटूट, अविरल प्रेम है, वात्सल्य है। यशोदा के लिए कृष्ण अवतारी नहीं, उनका छौना ही है। माता की ममता की तो वे प्रतीक हैं। जिस समय से कृष्ण उनकी अंग की शोभा बढ़ाने लगे तभी से वे उनके अंग हो गये। पैदा होते ही भाँति-भाँति के मंगलाचारों की सृष्टि होने लगी। कनक-जटित पालने के लिए चतुर सुनार को आज्ञा दे दी गई और उसे यह भली भाँति समझा दिया गया कि अमुक-अमुक प्रमाण का पालना तैयार करना आवश्यक है। कृष्ण कन्हैया पूरे दो ही महीने के न हो पाये कि उनके हृदय में यह अभिलाषा हिलोर मारने लगी कि कब मेरा लाल बैठेगा? 'घुटरुवन' चलेगा। 'घुटरुवन' चलने लगा तो यह आकांक्षा होने लगी कि कब 'पैंजनिएँ पहिनकर चलेगा'? उनमें बराबर चलने की सामर्थ्य आ ही न पाई थी कि आज्ञा हुई कि, 'पैंजनियाँ गढ़ लाउ रे सुनार।' साथ ही अन्न-प्राशन आदि संस्कार मा यशोदा बड़े उत्साह से मनाया करती हैं। कुछ खेलने लायक हुए तो पड़ोस के ग्वाल-बालों को उनके साथ खेलने को बुलाया जाने लगा। कुछ समय पश्चात् तो द्वार के बाहर भी वे जाने लगे और फिर वे अनेक कौतुक मा को दिखाने लगे। मा के पास बार-बार उलाहना आना शुरू हो गया। माता यशोदा

माता यशोदा और नन्द

कभी उन्हे डाँटती और कभी खीझकर पीटती थी। एक दिन तो उन्हें ऊखल से कस दिया, जिसमे यमलार्जुन का उद्धार हुआ। उनके हठ करने पर एक दिन उन्हे कृष्ण को गो-चारण की आज्ञा देनी पडी। बड़े लडके से वहाँ भेजने की तैयारी होने लगी। कृष्ण जंगल मे चले गये। दिन-भर माता बडी व्याकुल रही। कुछ और बड़े होने पर तरह-तरह के व्रज-युवतियो के उलाहने भी आने लगे। इस पर मा अपने कन्हैया को छोटा कह शिकायत करनेवालियों को बुरी-भली सुना देती। अक्रूर के आने पर हृदय पर पत्थर रख अपने कुँवर कन्हैया को सौप देती है, इसी आशा से कि शीघ्र उनका लाडला वापिस आयेगा। पर कृष्ण राज-कार्य के झझटों मे इतने फँसे है कि वापिस नहीं लौट सके। इस पर बार-बार उन्हे अफसोस होता है और यह खीझ उतरती है नंद पर। नंद को वे बार-बार जाने के लिए प्रेरित करती हैं, पर नंद मथुरा से वापिस बिना कृष्ण के लौट आते है। यहाँ से तो उनकी समस्त आशाओं पर पानी पड जाता है और दुःख बहुत ही बढ जाता है। अन्त में जब उद्धव के द्वारा वे देवकी के पास संदेश भेजती है, तब तो मातृ-ममत्व छलक ही पडता है। 'भोर ही भुखात ह्वइहैं, कंद मूल खात ह्वै है।' के समान वे कहती है कि 'मैं तो धाय तुम्हार सुत की'। जो मर्म-व्यथा शब्दों की राह उतर पडती है, उसे मा का हृदय ही जान सकता है।

(श्रद्धेय पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने एक शंका उठाई है कि गोकुल और मथुरा के इतने निकट होने पर यशोदा तथा अन्य व्रज की स्त्रियों का वियोग-दुःख अस्वाभाविक है। पर यह ठीक नही प्रतीत होता, कारण कि ग्राम्य अवस्था ही कुछ ऐसी है। गाँव से ५-६ मील दूरी पर आजकल भी जब कोई ग्राम्य-बालक किसी बड़े शहर को जाता है, तो माताओं का हृदय शंकित, भयभीत और दुःखी रहता है। फिर आज से २०० वर्ष पूर्व जब रेलादि के साधन नहीं थे, उनको कितनी

चिन्ता रहती होगी ? जबकि मथुरा शहर ही नहीं एक बड़ी राजधानी थी। फिर उन्हें यह ज्ञान ही था कि कंस श्रीकृष्ण-वध के लिए अनेक उपाय रच चुका है। कंस-वध के पश्चात अवश्य उनका वियोग-जन्य दुःख उतना नहीं रह जाता है।)

इस समय उनमें घोर निराशा के भाव का उदय होता है। कृष्ण अब उनका वह लाडला ग्रामीण कुमार नहीं है जो ब्रज की गलियों में उत्पात मचाया करता था। आज तो राजा ही नहीं, राजनैतिक उथल-पुथल, क्रांति-जन्य अव्यवस्था को जमानेवाला शासक भी है। कंस-वध के पश्चात श्रीकृष्ण से उनके मिलने में यही बड़ी बाधा थी। नन्दजी को उन्होंने कुशल-समाचार प्राप्त करने भेजा भी था। किन्तु परिस्थितियाँ इतनी विकट थी कि कृष्ण माता यशोदाजी से मिलने की उत्सुकता छिपाते हुए भी एक क्षण के लिए मथुरा छोड़ने में असमर्थ थे। माता यशोदा की निराशा इसलिए भी थी कि अब कृष्ण राजपुत्र था। कृष्ण से मिलने में उन्हें संकोच होना केवल सांसारिक ही नहीं, एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है, यद्यपि दोनों एक-दूसरे को अत्यन्त और हृदय से चाहते थे। फिर स्थानान्तर और समयान्तर भी सांसारिक दृष्टि से प्रेम में व्याघात उत्पन्न कर सकता है। ऐसी आशंका क्षीणरूप से अवश्य यशोदाजी के हृदय में रही होगी, वह पुनर्मिलन तक तो अवश्य रही ही होगी।

उद्धव कृष्ण के मित्र थे। गोपियों को सान्त्वना देने के लिए श्रीकृष्ण ने इन्हें गोकुल भेजा था। एक कारण और था। इन्हें अपने निर्गुण परमात्मा विषयक ज्ञान का गर्व हो गया था। इस हेतु भी ये ब्रज में पठाये गये थे, ताकि गोपियों की अनन्य भक्ति

उद्धव

और प्रेम देखकर उनसे कुछ शिक्षा ग्रहण करें। वहाँ पहुँचकर इन्होंने अपना ज्ञान-गर्व प्रकट करना प्रारंभ कर दिया; किन्तु वह चिकने घड़े पर पानी के समान भक्ति के प्रवाह में बह

गया। अंत मे गोपियों का एकरस प्रेम और अविचलित प्रभाव इन पर पड़ा और इन्होंने कृष्ण से उनकी भक्ति की प्रशंसा की।

सूर को पूर्णरूपेण समझने के लिए आवश्यक है कि उस प्रभाव को एक निगाह देखा जाय जो उनके पूर्ववर्त्ती कवियों का उन पर पड़ा है, तथा परवर्ती कवियों पर जो प्रभाव वे छोड़ गये है।

सूर और विद्यापति

विद्यापति एक सच्चे भावुक, सहृदय शृंगारिक कवि हुए हैं। उनका भाषा-माधुर्य, संस्कृत की पदावली का अनुकरण अनुपमेय है। भावों की सरस लहरी जो विद्यापति ने बहाई है, उससे मिथिला के रग-रग से जीवन-स्रोत प्रवाहित हो रहा है। उनकी भाषा और भावों के कारण ही बंग विद्वान विद्यापति को अपना आदि कवि मानते रहे हैं। विद्यापति की विशेषता यही है कि उन्होंने सदा अनवरत बहनेवाली शृंगार-रस की धारा बहाई है। संस्कृत-साहित्य मे जैसे जयदेव शृंगार-रस-पूर्ण रचनाओं के लिए प्रसिद्ध है, उसी तरह हिंदी में कोमल-कांत-पदावली लाने का श्रेय एक विद्यापति को है। विद्यापति ने पदो मे अपने भावों का स्रोत बहाया है। उनके समस्त पद गेय और संगीत के नियमो के अनुकूल हैं। वे राधाकृष्ण के रूप मे, निस्संकोच होकर, यहाँ तक कि अश्लीलता का डर त्याग कर भी शृंगार-रस से ओत-प्रोत हैं। राधाकृष्ण के वर्णन में 'अभिनव जयदेव' (विद्यापति) ने राधा के नन्हें-नन्हे, 'बेर से कुचो' का वर्णन तो क्या, 'अभिसार' तक का वर्णन किया है, पर उनकी विशेषता यही है कि उन्होंने सरस माधुर्य-पूर्ण काकली भाषा मे शृंगारिक भावों की बड़ी विमल धारा प्रवाहित की है। शृंगार-रस-संबंधी कोई घटना, कोई भाव उनसे अछूता नहीं रहा है। अब सूर को लिया जाय। सूर मे भी वही सीधा, सच्चा कहने का ढंग है। जो माधुरी

व्रजभाषा के द्वारा पाई जाती है यह भी स्वाभाविक है। उसी प्रकार उनके पद गेय, राधा-कृष्ण की भक्ति से समन्वित और कहीं-कहीं अश्लीलता को आश्रय देते हुए पाये जाते हैं। वास्तव में देखा जाय तो विद्यापति का सूर पर पूरा-पूरा प्रभाव लक्षित होता है। भाव साम्य को तो जाने दीजिये, जैसे-जैसे विद्यापति को समझते जायेंगे, उनके काव्य का अध्ययन करते जायेंगे, सूर की तल्लीनता, भाषा, भाव, आदि में उन्हीं का प्रतिबिम्ब दीख पड़ेगा। इष्टदेव तो दोनों के एक हैं ही। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ विद्यापति ने शृंगार के अवलंबन के हेतु उन्हें चुना है, वहाँ सूर ने भक्ति की अनन्यता में उन्हें अपना सर्वस्व समर्पित किया है। शैली की विशेषता ही यह है कि उसका एक ही पद कवि के समस्त भावों का केन्द्र रहता है। यही बात समान रूप से दोनों में पाई जाती है। विद्यापति यथार्थ चित्रण के नाम पर जो चाहें कृष्ण और राधा को लक्ष्य कर कह डालते हैं वही बात हम सूर में भी पाते हैं। सूर यद्यपि भक्त हैं पर उसकी चरम सीमा पर, उसके आवेश में वे कृष्ण को खरी-खोटी सुनाने में नहीं चूकते, जैसे एक लँगोटिया मित्र एक मित्र को। कबीर में धार्मिक अक्खड़पन था। इन दोनों में साहित्यिक। विद्यापति और सूर में यही तो खूबी है कि हृदय के भावों के आवेग में जो धारा फूटेगी, उसके वेग को वे रोकेंगे नहीं, मोड़ेंगे नहीं। सूर पर विद्यापति का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। यह मैं केवल इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि सूर विद्यापति के बाद के कवि हैं, पर मुझे तो सूर में विद्यापति का ही प्रतिबिम्ब नज़र आता है। इसका आशय यह नहीं कि सूर ने विद्यापति का भावापहरण किया है। भाव-साम्य है। सूर में स्वाभाविक अनुकरण है, पर रस दोनों में हृदय-तल से ही प्रवाहित हुआ है; यह तो मानना ही होगा।

कबीर का भी किसी न किसी अंश में सूर पर प्रभाव लक्षित होता है, यह भी इसलिए नहीं कि कबीर पूर्ववर्ती कवि हैं, किन्तु इसलिए

कि कबीर-सा सत्यकथन सूर मे भी पाया जाता है। पूर्ववर्त्ती कवियों का परवर्त्ती कवियों पर प्रभाव पडना स्वाभाविक है और पहिले के काव्यो से लाभ न उठाना एक बडी भारी भूल है। सूर ने दृष्टिकूटों की रचना कदाचित् कबीर की उलटबांसियों के अनुकरण पर की हो। अतर केवल यह है कि जहाँ कबीर गहनतम आध्यात्मिक भावों को प्रदर्शित करने के लिए गूढ और उल्टे कथन करते है, वहाँ सूर गहन शृंगारिक भावों और साहित्यिक, धार्मिक, शाब्दिक ज्ञान प्रदर्शित करने के लिए। जनता इस प्रकार के कथनो को समझने मे यद्यपि असमर्थ रहती है। पर ऐसे कथनों का उस पर प्रभाव खूब पडता है। ऐसे कथनकार को वह बड़ा विद्वान या साधु-महात्मा समझ बैठती है। साधारण लोग जनता की इस प्रवृत्ति से बडा लाभ उठाते है; यद्यपि कबीर और सूर का यह उद्देश्य नही था। कबीर उल्टे कथन अंतर्प्रवृत्ति की पुकार पर करते थे और सूर ने कुछ अंशों मे, पांडित्य प्रदर्शन एवं साहित्यिक ज्ञान के परिचय के हेतु ऐसा किया है। कभी-कभी अनुद्देश्य भी कोई अनुकरण चला करता है और कभी गुप्त, गहन, अप्रकट-योग्य विचारों को प्रकट करने के लिए। सूर ने कदाचित् इसी कारण अनुकरण किया है। अन्य बातों मे केवल कबीर का खरापन, सत्य-कथन, अपनी बात को साहस के साथ कहना ही सूर ने ग्रहण किया। पर यह ध्यान मे रखना चाहिये कि सूर ने कबीर की भाषा को विकास की उच्चतम श्रेणी पर पहुँचा दिया। कबीर के भावो को भक्ति की ओर निर्गुण भावना को सगुण भावना की ओर, और आध्यात्मिक उल्टे कथनो को साहित्यिक आवरणो की ओर झुका दिया था। सूर ने कबीर से जो ग्रहण किया, उसे ऐसा आत्मसात् किया कि उनकी रचनाओं मे उसे पाना दुष्कर है।

सूर और कबीर

सूर और तुलसी में समता और विषमता दोनो मिलती है।

संस्कृत के आदि कवि वाल्मीकि के समान दोनों हिंदी के आद्य महाकवि हैं, जिनकी प्रतिभा ने हिंदी-साहित्य को अलंकृत ही नहीं किया, उसमें

सूर और तुलसी

वृद्धि ही नहीं की, प्रत्युत उसे अमर बनाया है। केवल इन दो महाकवियों की रचना से ही हिंदी-साहित्य अमर होने की क्षमता रखता है। सूर और तुलसी दोनों सच्चे भक्त थे। एक कृष्ण के तो दूसरे राम के। दोनों प्रतिभाशाली, दोनों विद्वान् और इष्टदेव के रंग में रंगे हुए। ऐसे रंग में कि संसार ही उन्हें उस मय दिखाई दिया। वे जिये तो उनके लिए और मरे तो उन के लिए। उनके धर्म कर्म, सिद्धांत, ज्ञान-गौरव सब कृष्ण-राम ही थे। दोनों समकालीन भी थे। सूर भक्त और कवि हैं; पर तुलसी भक्त और कवि नहीं। भक्त और कवि से महत् लोक-दृष्टि के संपोषक व्यक्ति। सूर अपने इष्टदेव के सखापन और कवित्व को लेकर उतरे, तुलसी राम के दासत्व और सर्वतोमुखी प्रतिभा को लेकर। सूर वर्णन करने की एवं संसार के मनोरंजक, काव्योपयोगी विषयों को पैनी दृष्टि से देखने की शक्ति से समन्वित हैं तो तुलसी में लोकदृष्टि और प्रकांड पाण्डित्य है। सूर ने जिस विषय का वर्णन किया उसे एक गेय पद के गागरे में पूर्णता से भर दिया। तुलसी ने जिस पर लेखनी चलाई उसमें कोई अंग अछूता नहीं छोड़ा। सूर ने कुछ पेटेंट विषय वर्णन के लिए लिये हैं और उन्हें इनकी चरम सीमा पर पहुंचा अपनी कलम का कमाल दिखाया है; पर तुलसी ने कोई विषय ऐसा नहीं छूटा है, कोई अंग ऐसा शेष नहीं है, जिस पर उनकी निज की कोई छाप न हो। ऐसा मालूम पड़ता है कि तुलसी किसी स्पर्द्धा या प्रतियोगिता में भाग ले रहे हैं। सूर यह प्रकट करना चाहते थे कि जिस विषय पर मैं लिख रहा हूँ उस पर कोई लिख ही नहीं सकता; और तुलसी यह कि तुम किसी भी विषय का कैसा भी वर्णन करो, मुझमें इतनी क्षमता है कि मैं उस पर भी उतने ही अच्छे प्रकार से लिख सकता हूँ,

जितने अच्छे प्रकार से तुम। यह तो मानना पडेगा कि तुलसी सूर से बहुलांश मे प्रभावित हुए है। सूर के विनय और भक्ति-संबंधी पदों का आभास हमे उनकी 'विनय-पत्रिका' में मिलता है। सूर का वात्सल्य गीतावली और कवितावली के प्रारम्भ में। शायद सूर की प्रतिस्पर्द्धा के कारण ही तुलसी ब्रजभाषा मे भी अपनी कुछ रचना अमर कर सके। 'विनय-पत्रिका' के तो कई पद सूर के पदों से मिलते है। वे गेय भी है और राग-रागिनियों में लिखे गये है। पर तुलसी ने संस्कृत-पदावली को अपनाया है। सूर ने स्वाभाविक रूप से अपनी धारा को उद्गमित होने दिया है। सूर ने राम का वर्णन किया है, इसलिए कि वे अवतारों का वर्णन करते है; तुलसी ऐसा न करते हुए भी कृष्ण का गुणगान करते है। इससे भी ज्ञात होता है कि सूर का तुलसी पर पर्याप्त प्रभाव पडा है, यद्यपि तुलसी की प्रतिभा की चमक मे वह इतना चीण और धुंधला दिखाई देता है कि लक्षित ही नही हो पाता। पर तुलसी सूर से प्रभावित अवश्य हुए है; यह निश्चित-सा है।

सूर के पश्चात् का शायद ही कोई ऐसा कवि होगा जिसने सूर से किसी न किसी रूप मे ऋण न लिया हो। किसी ने भाव, किसी ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार, किसी ने भाषा, किसी ने वर्णन

सूर और हिन्दी-साहित्य के भक्त तथा अन्य कवि

और किसी ने शैली। कुछ अन्य प्रमुख कवियों को लेकर देखा जाय तो वे भी भाषा-भाव आदि के लिए महाकवि सूर के ही ऋणी दीख पडेगे।

मीरा के कई पदों मे सूर के पदो के ही भावों की पुनरावृत्ति दिखाई देती है। मीरा मे जहाँ भक्ति के आवेश का उछाल है, वहाँ किसी न किसी रूप मे सूर के भावो का दिग्दर्शन है, पर मीरा ने कुशलता से उसे पति-भक्ति की ओर मोड़ दिया है।

मतिराम, रसखान आदि कवि उन कवि-श्रेष्ठों में से आते हैं, जिन्होंने सूर की भाषा और भाव ग्रहण कर, मुक्तक छन्दों में सफलता-पूर्वक उनके सौंदर्य की रक्षा की है। मतिराम ने तो भावों को ग्रहण कर बहुत कुछ दूसरा रूप दे डाला है, पर कौशल और प्रतिभा के साथ। रसखान तो रस की खानि सूर के ही सरस पदों की माधुरी को उनसे निचोड़ और सवैयों में उसे सजा गये हैं। इससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि इन्होंने सूर का अध्ययन किया था और चालू भाषा और छन्दों में उनके भावों को ढाला था। साधारण जनता सूर की कलात्मक प्रवृत्ति और विस्तृत साहित्य-सागर में पैठने की असमर्थता के कारण उन्हें तो पहचान न सकी, पर जिन कवियों ने सूर के भावों को ग्रहण कर दूसरे रूप में जनता की मनोवृत्ति के अनुरूप रखा, उन पर जनता मुग्ध हो गई। रसखानि इसी श्रेणी के कवियों में आते हैं। इन्होंने बड़ी खूबी से सूर के भावों को अपनाकर जन-सम्मान प्राप्त किया है। इधर अयोध्यासिंह उपाध्याय और रत्नाकरजी ने भी उन्हीं विषयों पर लेखनी चलाई है और बहुत कुछ सफल हुए हैं। उपाध्यायजी का प्रिय-प्रवास वास्तव में काव्य-माधुर्य से ओत-प्रोत है और उसमें विरह-वर्णन बड़ी विशदता से किया गया है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह खड़ी बोली में नये रूप में रखा गया है, पर उपाध्यायजी ने इसमें अपनी प्रतिभा का पूरा सदुपयोग किया है। 'रत्नाकरजी' ने भी इसी रंग पर 'उद्धव-शतक' की रचना की है। इसमें व्यंग्य, चोज और ओज, उक्तियाँ और मनोरंजक कथोपकथन बहुत अच्छे हैं, पर उसमें न तो सूर का माधुर्य ही है और न सूर की स्वाभाविकता। प्रवाह और व्यंग्य अवश्य है। नंददास और सूर में भी कुछ अंशों में समता हो सकती है। अष्टछाप के कवियों में सूर के पश्चात् इन्हीं की गणना होती थी। सम्प्रदाय की दृष्टि से तो दोनों कवि एक हैं ही, पर साहित्य-रचना की दृष्टि से भी दोनों में बहुत

साम्य है। रास-पंचाध्यायी में नंददास के जो सिद्धांत हैं वही सूरसागर में सूर के। सूर के भ्रमरगीतों और नंददास के भ्रमरगीतों में भी बड़ा साम्य है। नंददास ने कुछ ही पंक्तियाँ सूर के मुकाबिले में लिखी हैं, पर जो हैं वे उत्तम हैं, सरस धार्मिक और विदग्ध है। उनमे यद्यपि सूर जैसा विस्तार, विभिन्न भावो का सन्निवेश नही है, पर उत्कृष्टता तो उनमें है ही।

सूर और आंग्ल कवि

वात्सल्य-रस का जैसा मनोमुग्धकारी वर्णन सूर ने किया है वह हिन्दी या संस्कृत अन्य भाषाओं मे भी कठिनता से ही प्राप्त होता है। कालिदास का वात्सल्य-रस पर केवल एक छंद मिलता है, वह भी सूर के किसी उत्कृष्ट पद की समता नही कर सकता। अंग्रेजी साहित्य मे तो इसका अभाव-सा ही है। कहीं-कही अवश्य इस विषय पर कोई काव्य दृष्टिगोचर हो जाता है, पर जितनी विशद व्याख्या सूर मे मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। होमर ने यद्यपि एक स्थान पर 'ओडेसी नामक काव्य मे थोडा वर्णन अवश्य किया है। वात्सल्य-रस में तो संसार का कोई भी कवि सूर की ज़रा भी समता नही कर सकता। लाङ्गफेलो शिशु का गुण-गान अवश्य करता है। लाङ्गफेलो की वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

> "You are better than all ballads,
> That ever were sung or said,
> For ye are the living poems,
> And all the rest are deads"

श्रृंगार-रस पर अवश्य प्रचुरता से आंग्ल साहित्य मिलता है, पर ब्रजभाषा की भक्ति, अनन्यता और भारतीय दृष्टिकोण से देखने पर आग्ल-साहित्य भी फीका लगता है। प्रकृति-वर्णन मे अवश्य वह सूर

की समता कर सकता है, पर उसकी और सूर की वर्णन-शैली में महान अंतर है। सूर जिस प्रकार प्रकृति को देखते हैं, आंग्ल कवि नहीं ; और आंग्ल कवि जिस प्रकार देखते हैं उस प्रकार सूर आज से ३५० वर्ष पूर्व नहीं देख सकते थे। कीट्स, शैली, बायरन, वर्ड्सवर्थ आदि की समता कुछ अंगों में सूर से की जा सकती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही विश्व-कवि-श्रेष्ठों में ऐसे लेखक दिखाई देते हैं, जिन्होंने बड़ी ही सरलता, सरसता एवं स्वाभाविकता से वात्सल्य-रस को अपनाया है और उसे आधुनिकतम रूप दिया है। इस विश्व-वन्द्य कवि ने वात्सल्य को अपनाकर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की समुचित रूप से रक्षा की है। सूर-सा सौंदर्य, निरालापन, वर्णन की सजीवता एवं स्वाभाविकता एक इन्हीं महाकवि में दृष्टिगोचर होती है। किंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विश्व कवि का वर्णन बाह्य (Matter) का है। बालहृदयोचित वात्सल्य-पूर्ण है ; किंतु बालोचित प्रत्येक कथन उतना स्वाभाविक नहीं है। कहीं-कहीं तो वे अस्वाभाविक भी हो गये हैं। सूर का बालक जहाँ शिशु ही रहता है, वहाँ रविबाबू का शिशु बालक दिखाई देता है। कम वय के बालक में विभिन्न कल्पनात्मक कथन कभी-कभी उतने हृदयस्पर्शी नहीं होते। रविबाबू का बालक अपनी अवस्था से बड़ा प्रौढ़ और विद्वान सा दिखाई देता है, यद्यपि कभी-कभी यह अवश्य देखने में आता है कि बालकों के मस्तिष्क में भी अनोखी सूझें, कथन और कल्पनाएँ लहराया करती हैं। उत्तम पुरुष में लिखने के कारण ही कदाचित कतिपय अस्वाभाविक कल्पनाएँ उनकी कला में रंग लाई हैं। फिर सूर-सा सर्वांग-पूर्ण वात्सल्य-निदर्शन भी रवि बाबू में नहीं है ; किंतु ये मनोमुग्धकारी और विदग्ध होती हैं। ऐसा ही कुछ कल्पनात्मक रूप रवि बाबू में मिलता है।

घोर भादों की अँधेरी काली रात थी, जिसमें श्रीकृष्ण का जन्म

हुआ। चारों ओर भय का साम्राज्य छाया था। बडी कठिनता से गर्भ छिपाया गया। वसुदेव और देवकी बंदी-गृह मे परतंत्र थे। ऐसी अवस्था

सूर के वात्सल्य-रस का परिचय

में, ऐसी भीषण परिस्थिति मे, कंस का नाश करने के लिए कृष्ण का जन्म हुआ था। जब वह दिव्य आत्मा उदर से बाहर निकली, माता-पिता ने उसे स्तंभित हो देखा, छाती से लगाया और हृदय पर पत्थर रख उसे गोकुल में ले जाकर नंद और यशोदा की गोद मे पौढ़ा आये। इसके पश्चात् सूर की छटा, उनकी लेखनी का कमाल, उनकी प्रतिभा की कांति, उनके कवि-हृदय की मार्मिकता देखते ही बनती है।

गाँव भर में विदित हो गया कि यशोदा को पुत्र की प्राप्ति हुई है। नंद के घर विविध बाजे वज रहे है। उनकी मंगल-ध्वनि शहर मे छाई हुई है। घर बाहर बधाई के गीत गाये जा रहे है। याचक-गणों के झुण्ड के झुण्ड आज नंद के द्वार पर आकर इकट्ठे हो गये है। जो याचक जो वस्तु, धन, वस्त्रादि चाहता है उसे उससे अधिक मिल जाता है। सब हर्षित हो-होकर वापिस लौटते है। गॉव भर की स्त्रियों मे अप्रतिम उत्साह छाया हुआ है। जहॉ-तहॉ केवल आनन्द और उत्साह के अतिरिक्त कुछ दृष्टि ही नही पडता। बालकृष्ण के दर्शन की लालसा से ग्राम की स्त्रियॉ नंद के घर आ रही है और उनकी मनोहर दिव्य छबि को देखकर अपना जन्म सफल कर रही है। इस समय किसी की, बालकृष्ण के दर्शन के अतिरिक्त, अन्य कोई अभिलाषा नहीं है। कई स्त्री-पुरुष तो याचक बनकर ही नंद के द्वार पर इसलिए आ डटे हैं कि वे दर्शन पाये। नंद उनसे पूछते है—भाई, तुम्हें क्या चाहिये? धन-सम्पत्ति मणि-मुक्ता क्या चाहिये? वे उत्तर देते हैं—महाराज, हमें कृष्ण के दर्शन के अतिरिक्त और कोई कामना नही है। सूर की सरस रचना यहॉ बडी हृदयग्राही हो गई है। (राम और केवट का गंगा-पार होने

से प्रथम के वार्तालाप का स्मरण कराती है। यद्यपि सूर ने उतना लंबा चित्र नहीं खींचा है। कुछ दो-चार तूलिकाएं ही चलाई है, तथापि वह भी कम चित्ताकर्षक नहीं है) जिन स्त्रियों ने काम आरम्भ नहीं किया था वे तो भागी ही गई, पर जो काम कर रही थीं, वे भी जल्दी गृह कार्य समाप्त कर भागीं। कोई स्त्री खेत में जाते जाते रुक गई। कोई दूध-दही बेचने गलियों में फिर रही थी वहीं से लौटकर नंद के 'द्वारे' आ पहुँची। सब स्त्री-पुरुष आनन्द-विभोर हो नाचते-गाते नंद के द्वार पर पहुँच रहे हैं। बस नगर भर में एक धुन है, एक बात है, एक काम है। खाना-पीना सब बिसर गया है! नंद-यशोदा को क्षणमात्र का अवकाश नहीं। ऐसे समय देवता भी क्यों चूकते। वे आकाश में अपने विमानों पर बैठकर हर्ष-ध्वनि करते हुए पुष्प-वर्षा करने लगे।

एक स्त्री दूसरी से कह रही है कि आज नन्द के यहाँ पुत्र हुआ है। वन में मत जाओ। स्त्री-पुरुष वहीं जा रहे हैं। इसी आनंदातिरेक का वर्णन है—

"आज बन कोऊ जिन जाइ।
सबै गाय और बछरा समेत सब आनहु चित्र बनाइ॥
ढोटा है रे भयो महरि के कहत सुनाइ-सुनाइ।
सबहि घोष में भयो कोलाहल आनन्द उर न समाइ॥
कत हौ गहर करत रे भैया बेगि चलो उठि धाइ।
अपने अपने मन को चीत्यौ नैननि देखौ आइ"॥

नन्द के द्वार भीड़ मची हुई है। लोग नाना भांति से आनंद मना रहे हैं। नन्द वस्त्राभूषण बाँट रहे हैं—
"आजु नन्द के द्वारे भीर।
एक आवत एक जात विदा ह्वै एक ठाढ़े मन्दिर के तीर।"

एक स्त्री दूसरी स्त्री से इसी सुन्दरता एवं आनन्द का कथन कर रही है। आनन्द और उत्साह की लहर ज़ोरों से आज उमड आई है। प्रत्येक नर-नारी को आज गोकुल मे सौंदर्य ही सौंदर्य दिखाई देता है।

"शोभा—सिन्धु न अन्त रही री।
नन्द भवन भरिपूर उमंग चली,
ब्रज की बीथिनि फिरति बही री॥

यशुमति उदर अगाध उदधि ते उपजी ऐसी सबन कही री।
सूर श्याम प्रभु इन्द्र नीलमणि ब्रजवनिता उरलाई गुही री॥

तुलसी के केवट के समान गोकुल-निवासियों की लालसा देखे ही बनती है। यह लालसा उनकी धृष्टता है या आग्रह?

गोवर्धनवासी एक अतिथि महानुभाव आये है। मार्ग में लौटते हुए मनुष्यों को इन्होंने राजा के समान जाता हुआ देखा है। उसी की प्रशंसा एवं नन्द की उदारता का वर्णन निजानन्द सहित नन्द से कर रहे है। साथ ही ऐसे विचित्र अतिथि है कि जो आनन्द उन्हे यहाँ प्राप्त हो रहा है, उसे छोडकर जाना ही नही चाहते। नन्दजी से वे यही भिक्षा माँगते है कि जब तक मदनमोहन पाँव-पाँव चलकर आँगन में न आये और बोलने न लगे, तब तक उन्हें उनके द्वार पर ही पडा रहने दिया जाय।

"नन्द जू मेरे मन आनन्द भयो हौं गोवर्धन तें आयो।
तुमरें पुत्र भयो मैं सुनिकै अति आतुर-उठि धायो॥
वंदीजन अरु भिक्षुक सुनि-सुनि दूरि-दूरि ते आये।

जे पहिरे कंचन मणि भूषण नाना बसन अनूप।
मोहि मिले मारग में आवत मानो जात कहूं के भूप॥
तुम तो परम उदार नन्द जू जिन जो मांग्यो सो दीनो।
... ...

दीजे मोहि कृपा करी सोई जो हौं आयौं माँगन।
यशुमति सुत अपने पाइन जब खेलन आवे आँगन॥
जब तुम मदनमोहन करि टेरो कहि-सुनि कै घर जाऊँ।
हौं तो तेरो घर को ढाढ़ी सूरदास मेरो नाऊँ॥"

जन्म होते ही तो यह बात थी। अब बालक के लिए सबसे प्रथम एक पलने की आवश्यकता होती है। माता यशोदा ने एक सुतार को बुलाया है। उससे कह रही है—"हे बढ़ई, अमुक-अमुक परिमाण का एक पलना बना दे और देख, उसमें इस स्थान पर मणियाँ, उस स्थान पर मुक्ता-मालाएँ लगाना। इस जगह रेशम की डोरियाँ बाँधना, दूसरी जगह रत्न को जड़ना।" इस प्रकार यशोदा के आदेश में मार्मिकता की उत्कृष्टता देखने योग्य है। उनके हृदय का आवेगमय उत्साह उमड़ा पड़ रहा है—

"अति परम सुन्दर पालना गढ़ि ल्याव रे बढ़ैया।
शीतल चन्दन कटाउ धरि, खरादि रंग लाउ,
विविध चौकी बनाउ रंग रेशम लगाउ,
हीरा, मोती, लाल मढ़ैया॥"

अनेक नर-नारी बालकृष्ण की रूप-माधुरी का पान करने नित्य प्रति आया ही करते थे। कंस द्वारा प्रेरित पूतना भी सुन्दर रूप धारण कर आई। चाहा कृष्ण को मार डालूँ, पर स्तन-पान कर इन्होंने

उसे पल भर ही मे यम को सौप दिया। इस अद्भुत घटना की चर्चा भी घर-घर फैल गई। जैसा कि बहुधा होता ही है। इस घटना पर सूर-दास ने कई पद कहे है।

यशोदानंदन कुछ बडा हो गया है। स्त्रियॉ पहिले तो केवल दर्शन करती थीं, अब लोभी के धन के समान उनकी अभिलाषा अधि-काधिक बढती जाती है। श्याम गोद मे उठाने योग्य हो गया है। कोई स्त्री उन्हे गोद मे उठाती है। कोई कन्धे पर बैठाती है। कोई एक दूसरे से उनको मॉगती है और कोई यह इच्छा करती है कि श्याम कुछ और बडे हों। यशोदा के हर्ष का क्या पूछना? कभी चूमती है, चुमकारती है, कभी गोद उठाती है, कभी पलना झुलाती है। इसी आनन्द मे ब्रजवासियों और यशोदा एवं नंद का जीवन व्यतीत होता जाता है। और एक के बाद दूसरी अभिलाषा दिन-दिन बढती जाती है।

"नेक गोपालै मोको दै री।
देखे कमल बदन नीके करि ता पीछे तू कनिया लै री॥"

बालक कृष्ण के बड़े होने की अभिलाषा भी परम सुन्दर है। उसका रोना, खीझना, हॅसना सभी अनुपमेय है—

'कन्हैया हाल रोहाल रोई।
हौ बारी तेरे इंदु-वदन पर अति छबि अलसनि रोई॥"

कृष्ण पलने मे सोये हैं यशोदा पालना झुला रही है। जिस परब्रह्म के वश न समस्त त्रिलोक है; अमर, नर, किन्नर जिसके सेवक हैं आज वह माता यशोदा को रोकर, किलकारी देकर, पलने में पडा हुआ अनिर्वचनीय सुख दे रहा है—

"गोपाल माई पलने झूलाये ।
सुर मुनि कोटि देव तेतीसों देखन कौतुक अम्बर छाये ॥

... .

हुलसत-हुलसत करत किलकारी मन अभिलाष बढ़ाये ।
सूर स्याम भक्तन हित कारण नाना वेष बनाये ॥"

श्याम सोते-सोते ही नाना कौतुक कर रहे हैं । स्वभावतः ही हाथ-पाँव चला रहे हैं । कभी हाथ का अंगूठा मुँह में लेते, कभी पाँव का । यहाँ तो ये क्रियाएँ प्राकृतिक रूप से हो रही हैं, पर बेचारे शिव-ब्रह्मादि पर बड़ा आतंक छा गया है । वे सोचते हैं कि भगवान की न मालूम क्या इच्छा है । कहीं प्रलय तो नहीं होनेवाला है । परब्रह्म की आंतरिक इच्छा को 'बपुरे सुर नर' क्या समझें । जहाँ देवता इतने भयभीत हैं, वहाँ ब्रजवासियों को इसकी ज़रा भी आँच नहीं लगी है । इस प्रकार का सुन्दर, सरस एवं अद्भुत आतंक-वर्णन प्रायः नहीं मिलता । ऐसी रचनाओं में तो प्राप्त ही नहीं हो सकता, जिनमें बालक ईश्वर रूप नहीं माना जाता—

सूर का आतंक वर्णन

"कर पग गहि अँगूठा मुख मेलत ।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि-हरषि अपने रंग खेलत ॥
शिव सोचत विधि बुद्धि विचारत बट बाढ़्यो सागर जल झेलत ।
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै दिगपति दिग दंतीन सकेलत ॥
मुनि मन भीत भये भव कंपित शेष सकुचि सहसौ फन पेलत ।
उन ब्रजवासिन बात न जानी समुझे सूर सकट पग पेलत ॥
"यशोदा मदनगोपाल सुवावै ।
देखि स्वप्न गति त्रिभुवन कंप्यो ईश विरंचि भ्रमावै ॥

असित अरुण सित आलस लोचन उभै पलक पर आवै।
जनु रवि गति संकुचित कमल युग निशि अति उडनन पावै॥
चौंकि चौंकि शिशु दशा प्रकट करि छबि मन मे नहि भावै।
जानों निशि पति धरि करि अमृत श्रुति भण्डार भरावै॥
श्वास उदर उरसति यों मानो दुग्ध सिन्धु छबि पावै।
नाभि सरोज प्रकट पद्मासन उतरि नाल पछितावै॥
कर शिर तर करि श्याम मनोहर अलक अधिक सों भावै।
सूरदास मानो पन्नग पति प्रभु ऊपर फन छावै॥"

ऐसी ही आनन्द-केलि मे दिन व्यतीत होते किसी को ज्ञात नही होते। एक दिन की बात है, बालक तो थे ही श्रीकृष्ण पलने मे से नीचे गिर पडे। इसका वर्णन भी सूर ने किया है। सूर की दृष्टि से बाललीला एवं क्रीडा-सम्बन्धी कोई भी अंश अछूता नही रहा है। श्याम अब साढ़े तीन महीने का हो चुका है। स्त्रियो का दर्शन करने आना व गोद मे उठाने के लिए आपस मे झगड़ना अब भी नही छूटा है। क्षण-क्षण, दिन-दिन के जीवन मे नवीनता ही नवीनता रहती है। यशोदा अब सोचती है कि कब मेरा लाड़ला घुटनों के बल चलेगा। कब उसकी दतुलियाँ दिखाई देंगी। मातृहृदय का सूर को कैसा और कितना परिचय है, यह इसी से ज्ञात होता है। माता की स्वाभावतः यह इच्छा रहती है कि उसका प्यारा बालक शीघ्र ही बडा हो जाय। बडे होने पर घुटने चलने की इच्छा होती है। घुटनों चलने लगता, तो खड़े होने की, बोलने, क्रीडा, कौतुक करने की अभिलाषा बढती ही जाती है।

सूर का बाल-क्रीडा, शृङ्गार रस का परिचय तथा विभिन्न लीलाएँ

यशोदाजी सोचती है—

"नन्द घरनि आनन्द भरी सुत श्याम खिलावै।

कबहुँ घुटुरुवनि चलहिंगे कहि विधिहि मनावै ॥
कबहुं दँतुली है दूध की देखौं इन नैननि।
कबहुँ मुख बोलि हैं सुनिहौं इन बैननि ॥

यह अभिलाषा शनैः-शनैः व्यग्रता, उत्सुकता एवं अधीरता में परिणत हो जाती है।

उत्तरोत्तर उनका विकास आगे के पदों में होता जाता है। सागर की लहरों के समान एक लालसा शांत नहीं हो पाती है और उसके प्रथम ही दूसरी उसका स्थान ग्रहण कर लेती है—

"जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटरुअन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै ॥
कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे मुख बैन झरै।
कब नंदहि कहि बाबा बोलै कब जननि कही मोहि ररै ॥
कब मेरो अंचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसों झगरै।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै अपने कर सों मुखहि भरै ॥
कब हँसि बात कहैगो मोहि सो छवि देखत दुःख दूरि करै।

ऐसे लीलाकारी कौतुकी श्याम को भला कौन न चाहेगा? माता-पिता के तो ये प्राणधन थे ही। जिस परब्रह्म के लिए शिव, ब्रह्मा आदि का पाना भी दुर्लभ है, वह आज यशोदा की गोद भर रहे हैं। उसके गृह को सौभाग्यशाली बना रहे हैं, फिर भी क्या यशोदा अपनी छाती से उस प्यारी मूर्ति को लगा हृदय नहीं जुड़ावेगी।

"अब हौं श्याम बलि जाऊँ हरी।
निस-दिन रहति बिलोकति हरि मुख छांडि सकति नहि एक घरी।"

माता यशोदा की इन अभिलाषाओं को बालकृष्ण भी कब अतृप्त रखनेवाले थे। जब कभी किसी कारण से उनको दुःख होता है, तब श्याम जरा हँसकर, किलकिलाकर उनका दुःच मोचन करते है—

"हरि किलकति यशुदा की कनियाँ।
निरखि-निरखि मुख हँसत श्याम सों मो निधनी के धनियाँ॥"

श्याम और बडे हो गये। छः महीने मे कुछ ही दिनों की कमी है। अब माता-पिता को अन्न-प्राशन की चिन्ता पडी। वह भी क्यों रहे? प्रत्येक रीति-रस्म त्यौहार संस्कार यथाविधि मनाया जाता है। बस एक दिन ब्राह्मण को बुलाकर शुभ दिन पूछा और तब से ही यशोदाजी उसकी तैयारी मे तत्पर होकर लग गईं। उस मंगल-दिन यशोदा ने सखी-सहेलियों को बुलाया। गायनादि गवाये। इस समय भी कोई स्त्री उनको उठाती है, कोई झकझोरती है। एक ओर कान्ह के मुँह जूँठा करने के लिए षटरस व्यञ्जन तैयार हो रहे है। बस उस मंगल-घडी के आने मे अब थोडा ही समय रह गया है। नंद भी आ गये और प्यारे लडके कन्हैया को गोद मे बैठाने को माँगा। उधर यशोदा ने उन्हे स्नान करवाया, वस्त्राभूषण पहिराये और नंद की गोद मे बैठा दिया। सबको सब प्रकार के व्यञ्जन परोस दिये गये। कृष्ण का अन्न-प्राशन हुआ और फिर जिसकी जो इच्छा हुई उसने वह पदार्थ खाया। अब यशोदा बार-बार अपने लाल के मुख को चूम-चूमकर उसकी सुन्दरता की सराहना कर रही हैं और नेत्र सफल कर रही हैं—

"लाल तेरे मुख ऊपर बारी।
बलि कैसे मेरे नैनन की लगे लेऊँ बलाई तिहारी।"

यशोदा, नन्द तथा अन्य व्रजवासी ऐसे ही खेलते खिलाते अपना समय व्यतीत करते जाते है और उन्हें कुछ ज्ञात नही होता कि

यह किस प्रकार निकल गया। परसों श्याम साढ़े तीन मास के थे, कल ६ के हो गये और आज श्याम पूरे वर्ष भर के होने जा रहे हैं। जब वर्ष भर के हो रहे हैं तो उनकी वर्ष-गाँठ भी मनाना चाहिये। माता यशोदा अन्न-प्राशन का उत्सव अभी समाप्त ही नहीं कर पाई थीं कि वर्षगांठ आ गई। नन्द इधर-उधर फूले-फूले फिरते हैं। उन्हें बड़ी खुशी हुई है। ग्राम-महिलाओं को इस उत्सव निमित्त बुलाया जा रहा है। इधर फूल-तमाल लाने की तैयारी हो रही है। उधर यशोदा आँगन लिपवा रही हैं। चौक पुरवा चौकी डलवा रही हैं। स्त्रियों को नये-नये वस्त्राभूषण दिये जा रहे हैं, ताकि सब सुन्दर दिखाई दें। उनके उत्साह की वृद्धि हो। यशोदा श्याम को नहाकर अब शरीर पोंछ काजल और दिठौना लगा रही हैं। कृष्ण भी मचल रहे हैं, रो रहे हैं। बाल-कलह कर रहे हैं—

"आजु भोर तमचुर की रोल।
गोकुल में आनन्द होत है मंगल-ध्वनि महाराने टोल॥
फूले फिरत नन्द अति सुख भयो हरषि मंगावत फूल तमोल।
फूली फिरत यशोदा घर-घर उबटि कान्ह अन्हवाइ अमोल॥
तनक बदन दोउ तनक-तनककर तनक चरन धोवत परखोल।
कान्ह गले सोहे कंठमाला अंग अभूषण अंगुरिन गोल॥
शिर चौतनी डिठौना दीने आँखि आँजि पहिराइनि चोल।
श्याम करत माता सो झगरा अटपटात कलबल कर बोल॥
दोउ कपोल गहिकै मुख चुंबति वर्ष-दिवस कहि करत कलोल।
सूरश्याम व्रजजन-मनमोहन बरष गाँठि को डोरा खोल॥"

वर्षगांठ हुई और उसके समाप्त होने न होने ही कर्णवेध संस्कार आ उपस्थित हुआ। पहिले यशोदा के हृदय कुछ भय का संचार-

सा हुआ, पर क्षण भर मे वही आनन्द मे परिणत हो गया। सब व्रज-युवतियों ने गाते-बजाते इसे भी समाप्त कर लिया। अब श्याम घुटनों के बल चलने लगे है। जिस बात को देखने की अभिलाषा आज ६ महीने से लगी हुई थी वह भी आज पूर्ण हुई। श्याम घुटनों के बल चल-चलकर कभी इधर जाते, कभी उधर; कभी नन्द की गोद, कभी यशोदा के अंचल मे। कभी श्याम किलकारी देकर हँसते हैं, कभी मणि-रत्न-जटित आँगन मे अपना प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं। सब व्रजवासियो के मध्य श्याम को सूर की अमृत वाणी मे खिलवाड करते देखिये और बार-बार सूर की, अनाखी सूर की लेखनी चूम लीजिये—

"घुटुरुअन चलत श्याम मणि आँगन मात-पिता दोउ देखत री।
कबहुँक किलकिलात मुख हेरत कबहुँ जननि मुख पेखत री॥

कबहुँक दौरि घुँटरूअन लटकत गिरत फिरत फिर धावत री।
इतते नन्द बुलाइ लेत है उतते जननि बुलावत री॥"

श्याम यहाँ-वहाँ फिर रहे हैं। फर्श पर उनका प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है। वे यह तो समझते नही, क्या है? उसे ही पकडने दौड़ते है। कुछ-कुछ मुँह से बोलने लगे हैं, पर स्पष्टता से बोली नहीं निकलती है। कुछ बोलना चाहते है कुछ निकल जाता है।

"बाल विनोद खरो जिय भावत।
मुख प्रतिबिम्ब पकरिबे कारण हुलसि घुँटरुअन धावत॥
छिनक माँझ त्रिभुवन की लीला शिशुता माँह दुरावत।
शब्द एक बोल्यो चाहत हैं प्रगट बचन नहि आवत॥
कमल नैन माखन माँगत है ग्वालनि सैन बतावत।
सूर श्याम सुसनेह मनोहर यशुमति प्रीति बढावत॥"

जब घुटनों के बल चलने लगे, तो श्याम कहीं के कहीं चले जाते हैं। हाथ-मुँह में धूलि लपेट लेते हैं। गिरते-पड़ते माता के पास पहुँचते हैं। माता झट से दौड़कर गोदी में उठा लेती है और धूल झाड़ मुँह पोंछ पूछती है—यद्यपि श्याम उत्तर नहीं दे सकते हैं—कि तूने यह धूल कहाँ से लगा ली—

"नन्दधाम खेलत हरि डोलत।
यशुमति करत रसोईं भीतर आपुन किलकत बोलत॥
टेरि उठी यशुमति मोहन को आवहु घुटुरुवन धाये।
बैन सुनत माता पहिचानी चलै घुटुरुवनि पाये॥
लै उठाय अंचल गहि पोंछे धूर भरी सब देह।
सूरज प्रभु यशुमति रज झारति कहाँ भरी यह खेह॥"

जब कुछ और बड़े हुए तो हाथ पकड़कर चलना सिखा रही हैं—

"धनि यशुमति बड़भागिनी लिये श्याम खिलावैं।
तनक-तनक भुज पकरिकैं ठाढ़ो होन सिखावै॥
लरखरात गिरि परत हैं चलि घुटुरुवन धावै।
पुनि क्रम-क्रम भुज टेक कै पग द्वैक चलावैं॥"

श्याम चन्द्रकला की भाँति बढ़ते जाते हैं। कभी इधर जाते हैं कभी उधर, कभी घर के इस आँगन में कभी उस आँगन में, कभी लड़खड़ाकर गिर पड़ते हैं और उठकर फिर भागने लगते हैं। कभी सीढ़ियों से उतरना चाहते हैं, कभी उन पर चढ़ना। कभी माता जब उनको सीढ़ियों से उतरते देख लेती है, तो गिरने के भय से स्वयं जाकर उन्हें उतारने

लगती हैं। सूर आश्चर्य प्रकट करते है कि जिस शक्ति से बड़े-बड़े राक्षसों का, शक्तिशालियों का दर्प दूर किया वह दर्प कहाँ है? जिस शक्ति ने रावण सदृश योद्धा का वध कर डाला, पूतना का संहार किया वह ज़रा-ज़रा मे ठोकर खाकर गिर रहा है।

कृष्ण की इस मनोमोहिनी बाल-क्रीडा से नन्द और यशोदा को ही आनद नहीं प्राप्त होता, वरन् यह आनंद-अंबुधि तो उमड़कर सब ब्रजवासियों को निमग्न कर रहा है। जो इस रस-सागर का सुख उठा लेना है, वह फिर इसे त्याग अन्यत्र नही जाता। ग्राम ललनाओ की तो यह दशा है कि जब से उन्होंने इस माधुरी का आस्वादन किया है, तब से खाना-पीना हराम है। घर जाना ही भूल गई हैं। यदि कार्य-वशात् जाती भी हैं तो हृदय मे कृष्ण के प्रेम की डोरी बाँधकर आती हैं। क्षण भर भी घर मे रहना दूभर हो गया है। वापिस आई नहीं कि फिर वहीं पहुँचीं। घर से उनका स्नेह ही टूट गया है। बार-बार उनकी सुन्दरता का ही ध्यान बना रहता है। श्याम की बाल-क्रीड़ा के सिवा कुछ अन्य कथन नहीं कहने को, व्यवसाय नहीं करने को—

"जबते मैं खेलत देखो आँगन यशुदा को पूत री।
तबते गृह सों नाहिन नातो टूटो जैसो काचो सूत री॥
अति विशाल वारिज दल लोचन राजति काजर रेख री।
इच्छा सौं मकरंद लेत मनौ अलि गोकुल के वेष री॥
श्रवणन नहीं उपकंठ रहत है अरु बोलत तुतरात री।
उमंगैं प्रेम नैन मगन ह्वै कै कापै रोले जान री॥
दमकत दोउ दूध की दतियाँ जगमग-जगमग होत री।
मानों सुन्दरता मंदिर मैं रूप रतन की ज्योति री॥
सूरदास देखो सुंदर मुख आनंद उर न समाइ री।

इस प्रकार जो यहाँ जाता है श्याम की विचित्र क्रीड़ाओं पर मुग्ध होकर वापस लौटता है, सब ब्रजवासी मंत्रमुग्ध-से हो रहे हैं। उधर श्याम अब बाहर भी खेलने के लिए जाने लगे हैं। सब ग्वाल-बालों के साथ अपने घर से बाहर खेलते हैं। कभी यशोदा काम करती रहती हैं और कभी बाहर आकर अपने सुत को देख जाती हैं। इतने में ही कभी श्याम को भूख लग आती है तो दौड़कर झट माता के पास माखन-रोटी माँगने पहुँच जाते हैं। माता को जरा भी देर होती है तो रोने लगते हैं। उनके रोने में भी अकथनीय आनन्द आता है। उनका मचलना भी मनोहर है। उनका तनक रोटी माँगना भी कितना प्यारा है?—

"तनिक दे री माइ।
माखन तनक दै री माइ॥
तनिक कर पर तनिक रोटी माँगत चरन चलाइ।
कनक भूपर रतन की रेखा नेक पकर्यो धाइ।"

इस प्रकार से स्वयं तो रोटी माँगने में शरमाते हैं, पर जब यशोदा बुलाती है तो खेलने की धुन में इतने मस्त हो जाते हैं कि फुसलाने से भी नहीं आते। तरह-तरह के प्रलोभन दिये जाते हैं, पर श्याम बाहर ही रहते हैं। माता यशोदा कहती हैं—

"कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बाढ़ै।
कंस केशि बक बैरिन के उर अनुदिन अनल उढै॥
यह सुनि कै हरि पीवन लागै त्यों-त्यों लियो लढै।
अचवन पै तातो लाग्यो रोवन जीभ डढै॥
पुनि पिवत ही कच टकटोवै झूठे जननि रढै।
सूर निरखि मुख हँसत यशोदा सो सुख उर न मढै॥"

कृष्ण बार-बार अपनी चोटी टटोलते हैं, पर वह बढ़ती हुई दिखाई नहीं देती। अपनी बुद्धि से सोच-विचार फिर पीने लगते हैं और फिर देखने लगते हैं; पर फिर भी वह उतनी ही बड़ी दिखाई देती है। अब तो उनको माता के झूठ बोलने का कुछ-कुछ ज्ञान हो जाता है। इतने में यशोदा भी मुस्करा उठती हैं। बस अब बालक का धैर्य जाता रहता है वह पूछ उठता है—

"मैया कबही बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत ओछत नागिनि सी भ्वैं लोटी॥
काचो दूध पिवावत पचि-पचि देत न माखन रोटी।
सूर श्याम चिरजीवौ दोउ भैया हरि हलधर की जोटी॥"

अब श्याम मम्मा, दद्दा कहना भी सीख चुके हैं। इसी से वे
"कहन लगे मोहन मैयो-मैया।
पिता नंद सों बाबा-बाबा अरु हलधर सों भैया॥"

बड़े होने पर बच्चे घर के भीतर रहना कम पसन्द करते हैं। उन्हें बाहर ही बाहर की लौ लगी रहती है। अतएव अब श्याम बाहर ही खेला करते हैं। कभी नन्द बाहर से आकर बुलाते है, तब बड़ी कठिनाई से श्याम आते हैं। सन्ध्या हो जाती है। यशोदा मैया बार-बार बुला रही हैं, पर श्याम को आने की सुधि ही नहीं है। कोई भी बाहर घुमाने को जाय फौरन बाहर जाने को तैयार। घर मे रहेंगे तो सीधे न रहेंगे। कुछ न कुछ खटपट चलती ही रहेगी और मिट्टी खाने में तो बड़े उस्ताद। बालस्वभाव ही ऐसा होता है। बस जो चीज़ देखी उठाकर मुँह में डाल ली। चाहे मिट्टी हो, पत्थर हो, लोहा हो, कुछ भी हो।

बालकृष्ण भी जहाँ मिट्टी देखी, उठाकर गप्प कर गये। माखन-रोटी मैया बार-बार बुलाकर देती है, तो अच्छी नहीं लगती और मिट्टी ऐसी मीठी कि चुरा-चुराकर खाते हैं। जब यशोदा पूछती हैं कि मिट्टी क्यों खाई तो झट से कह उठते हैं—मैया मैंने मिट्टी नहीं खाई। कभी कह देते है कि ये तो मेरे मुंह से मिट्टी लगा देते है और झूठ ही आकर तुमसे कह देते हैं कि इन्होंने मिट्टी खाई है। कभी जब यशोदा मिट्टी खाते पकड़ लेती है, तब बस श्याम के होश गुम हो जाते हैं। वह उसे नहीं छोड़ते। यशोदा चाबुक लेकर कहती हैं—माटी उगलो। 'नहीं' कहने पर कहती हैं— अच्छा मुंह दिखाओ। मुँह खोलकर जब दिखाते है तो उन्हे ब्रह्माण्ड दीख पड़ता है और वे चकित होकर रह जाती हैं—

"खेलत श्याम पौर कें बाहर बृज लरिका सोहत संग जोरी।
तैसे आपु तैसेई लरिका सब अति अज्ञ सबनि मति थोरी॥
गावत हांक देत किलकारत दुरि देखत नंद रानी।
अति पुलकित गदगद मृदुबानी मन-मन महरि सिरानी॥
मांटी ले मुख मेल दई हरि तबहि यशोदा जानी।
सांटी लिये दौरी भुज पकरे श्याम लगै रई ठानी॥
लरिकन को तुम सब दिन झुठवत मोसों कहा कहोगे।
मैया मैं माटी नहीं खाई मुख देखे निबहोगे॥
बदन उघार दिखायो त्रिभुवन बन घन नदी सुमेर।
नभ शशि रवि मुख भीतर है सब सागर धरती फेर॥
यह देखत जननि जिय व्याकुल बालक मुख का आहि।
नैन उघारी बदन हरि मूंद्यो माता मन अवगाहि॥
झूठ ही लोग लगावत मोको माटी मोहि न सुहावै।
सूरदास तब कहति यशोदा ब्रज लोगन यह भावै॥"

श्याम ज्यों-ज्यों बड़े होने लगे, त्यों-त्यों और अधिक उत्पाती

और बात बनानेवाले होते जाते हैं। उनका यह असत्य, उनकी यह चोरी भी कितनी प्यारी है! वास्तव में सूर के आनन्द का मथन करना "गिरा अनयन नयन बिनु बानी" है। कृष्ण सब ग्वाल-बालों को लेकर अब घर-घर चोरी करने निकल जाया करते हैं। जरा आँखें बचाई उड़ाया माखन और भागे। कौन पकड़ने दौड़ता है? और श्याम हाथ ही कब आने लगे है। देखा, कोई व्रजनारी घर से बाहर चली गई है, घर पर कोई है नहीं, बस फिर तो खूब बन आई। चुपके से अपने सखाओं को संग लेकर अन्दर घुस गये। दधि, दूध, माखन की मटकी तक हाथ नहीं पहुँचता है, चट से एक सखा को घोडा बनाया, और अढ़ गये उसकी पीठ पर। खूब माखन-बँटाई होने लगी। जैसी इच्छा खाया, खिलाया, पिलाया, लुटाया और मटकी-चटकी फोड़, दूध-दही गिराकर भागे। बेचारी व्रज-नारी जब घर आई तो श्याम की करतूत देखकर हैरान हो रही। यशोदा से जाकर शिकायत की पर माता यशोदा कब मानने लगी? वे तो अपने ललना को भोला समझती हैं और कृष्ण भी बातें बनाने मे निपुण हैं। एक दिन फिर किसी के घर घुसे। आज पकड गये। वह पकडकर माता के पास लाई। माता के पास आते ही उसे झूठा बना दिया। एक दिन घर पर ही पकड़कर कोई ललना क्रोधित होने लगी, बस क्षण भर उसकी ओर देखकर हँस दिये। वह ललना भी हँस दी और उन्हें हृदय से लगा लिया। एक दिन अकेले ही अँधेरे मे घुस गये और माखन उडाने लगे। गृहस्वामिनी ने देखा तो मुग्ध हो गई और अँधेरे ही मे उनकी मोहक छवि को निहारने लगी—

"आप गये हकये सूने घर।
सखा सबही बाहर ही छाँड़े देख्यौ दधि माखन हरि भीतर॥
तुरत मथ्यो दधि माखन पायो लै लै खात धरत अधरनि पर।
सैनहू दै सब सखा बुलाये तिनहि देत भरिभरि अपने कर॥

छिटक रही दधि बूँद हृदय पर इत-उत चितवन हरि मन में डर॥"

एक दिन ऊखल पर हाथ रख पीठ पर सखा को चढ़ा माखन चुरा लाये। गृहस्वामिनी गई और यशोदा को खबर कर आई। यशोदा आई और देखती रही।

"चोरि करत कान्ह धरि पाये।
निशि बासर मोहि बहुत सतायो अब हरि हाथहि आये॥
माखन दधि मेरो सब खायो बहुत अचगरी कीन्ही।
अब तो आइ परे हो ललना तुम्हें भले मैं चीन्ही॥
दोउ भुज पकरि कह्यो कित जैहो माखन लेउ मंगाई।
तेरी सौं मैं नेकु न चाख्यौ सखा गये सब खाई॥
मुख तन चितै बिहंसि हँसि दीनो रिस तब गई बुझाइ।
लियो उर लाइ ग्वालिनी हरि को सूरदास बलि जाइ॥"

श्याम किशोरावस्था को प्राप्त हो रहे हैं। बारह वर्ष की अवस्था हो गई है। पहिले माखन चोरी का कोई दूसरा ही आनन्द था, अब कोई दूसरा ही हो रहा है। इस किशोर की छवि देख ब्रज-वनिताओं ने धैर्य छोड़ दिया है। श्याम अब किसी दूसरे उद्देश से ही माखन चोरी करके खाने लगे हैं। यशोदा के पास शिकायत आती है, पर यशोदा को तो कृष्ण छोटे ही दिखाई देते हैं। और वे ब्रज-युवतियों ही को निलज्ज कह डाँटकर रह जाती हैं। एक दिन कृष्ण ने एक युवती को दही मथते देखा। वे उसके द्वार पर जाकर खड़े हो गये। वह इन्हें देखकर विह्वल हो गई। दधि-दूध की लालच देकर धीरे से श्याम को अन्दर बुला लिया। और बड़े जोर से हृदय से लगा लिया। श्याम की छवि ने उसे बेसुध बना दिया था। श्याम ने तराक से उसकी चोली

फाड डाली, अब क्या करे। शायद घरवालों के डर से चली यशोदा के पास शिकायत करने—

"अपनो गांउ लेहु नंदरानी।
बड़े बाप की बेटी ताते पूतहि भले पढावति बानी॥
सखा धरि लै पैठत घर मे आपु खाइ तो सहिये।
मैं जब चली सामु है पकरन तब के गुण कह कहिये॥
भाजि गये दुरि देखत कतहूँ मै घर पौढी आई।
हरे हो बेनी गहि पाछे बाँधी पाटी लाई॥
सुनु मैया याके गुण मोंसों इन मोंहि लियो बुलाई।
दधि मे परि सेत की चींटी मोपे सबै कढाइ॥
टहल करत याके घर की मै कह पति संग मिलि सोइ।
सूर वचन सुनि हंसी यशोदा ग्वालि रही मुख जोइ॥"

इसके पश्चात् दूध दुहना भी बडा मनोरंजक है। श्याम दूसरों को दूध दुहते देखकर स्वयं भी दूध दुहना सीखते है—

"मैं दुहिहूं मोंहि दुहन सिखावहु।
कैसे धार दूध की वाजति सोई-सोई बिधि तुम मोहि बतावहु॥
कैसे धरत दोहनी घुँटुवन कैसे बछरा थनहि लगावहु।
कैसे ले नोईं पग बॉधत कैसे लै या पग अटकावहु
निपट भई अब सांझ कन्हैया गाइन पै कहुँ चोट लगावहुँ॥
सुर श्याम सो कहत ग्वाल सब धेनु दुहन प्रातहि उठि आवहु।"

प्रातःकाल हो गया। श्याम अभी सोये ही हुए है। यशोदा और नंद जगा रहे हैं। उस समय की उनकी स्वाभाविक क्रियाएँ देखने योग्य होती है।

इधर कृष्ण जागे ही थे उधर माता ने जलपान की तैयारी पहिले से ही कर रखी थी। उठते ही मुँह धुलाया और दोनो भैयाओं को जलपान के लिए बैठा दिया। अब दोनो प्यार भरे वचनों से खा और खिला रहे हैं।

"बल मोहन दोउ जेंवत रुचि सों सुख लूटति नंदरानी।
सूरश्याम अब कहत अघाने अंचवन माँगत पानी॥"

एक बार इसी प्रकार ये जलपान कर ही रहे थे कि द्वार पर सब ग्वाल-बाल गाय चराने चलने पुकारने लगे। अब क्या था, खाना-पीना भूल गये और जल्दी-जल्दी जैसे-तैसे कुछ खाया, कुछ डाला और भागे; क्योंकि आजकल दोनो भाइयों को गाय चराने का बड़ा चाव है। बड़ी रुचि से गाय चराने जाते हैं। प्रारम्भ मे नये काम को सीखने मे बच्चों को क्या सभी मनुष्यों को बड़ा उत्साह रहता है। वे बड़ी लगन से काम करते हैं और उसी में जुट जाते हैं। इधर जब इन्होंने भी द्वार पर सब सखाओं को पुकारते सुना, तो ये भी भागे। उत्सुकता से बाहर आकर पूछते हैं—

"कितिक दूर सुरभी तुम छांड़ी बन तो पहुँची आहीं॥
ग्वाल कह्यो कछु पहुँची ह्वै हैं कछु मिलि हैं मग माहीं।
सूर श्याम बल मोहन मैय्या गैयन पूछन जाहीं॥"

वन में गैया चराने पहुँच गये हैं। इधर-उधर चराते-चराते मध्याह्न हो गया है। इस समय कृषक-कन्याएँ तथा वधुएँ खेतों पर भोजन ले जाती हैं। कृष्ण और बलराम के लिए भी कोई व्रज-वधू दुपहर को भोजन लाई है। पर ये दोनो मस्त जीव। छिपकर उसे कुछ तंग

कर रहे हैं। वह खीझ उठी। वह खीझ ही रही थी कि श्याम ने उसकी बड़ाई कर उसे शांत कर दिया—

"ऐसी भूख माँझ तू ल्याई तेरी केहि विधि करौं बड़ाई।
सूर श्याम सब सखन पुकारत आवहुँ क्यों न छाक है आई॥"

सखाओं के आ जाने पर सब साथ-साथ खाने को बैठे। क्या चुहलबाज़ी हो रही है? कितना विनोद एवं आनंद हो रहा है? मित्र-मित्र जब खाने बैठते हैं, तो यही आनंद आता है—

"ग्वालन करते कौर छुड़ावत।
जूठौ लेत सबन के मुख को अपने मुख लै नावत॥"

भगवान के बाल-स्वरूप का चकरी भौंरा खेलना भी बड़ा मनोहर है। कृष्ण भौंरा माँग रहे हैं—

"दे मैया भँवरा चक डोरी।
जाइ लेहु आरे पर राखो, काहि मोल ले राखै कोरी॥
ले आये हँसि श्याम तुरत ही देखि रहे रँग-रँग बहु डोरी।
मैया बिना और को राखत बार-बार हरि करत निहोरी॥
बोलि लिये सब सखा संग के खेलत श्याम नंद की पोरी।
तैसेइ हरि तैसेइ सब बालक कर भँवरा चकरिनि की जोरी॥
देखति जननि यशोदा यह छवि विहँसत बार-बार मुख मोरी।
सूरदास प्रभु हँसि-हँसि खेलत ब्रज बनिता तृण डारत तोरी॥"

इसी प्रकार अनेक क्रीडा-कौतुकों में समय व्यतीत होता कुछ ज्ञात नहीं पड़ता। एक दिन एक स्थान पर श्याम चकरी भौंरा खेल रहे थे, वहाँ पर उन्हें प्रथम बार ही राधिका के भी दर्शन हो गये। वह

नीली फरिया पहिने हुए थी। उसका गौरवर्ण है। वह बड़ी भोली है। इसे देखते ही कृष्ण प्रथम बार ही में मोहित हो गये। कृष्ण राधा से अब उसका परिचय पूछते हैं। दोनो का परस्पर वार्तालाप एवं कृष्ण का राधा को संग ले जाना भला प्रतीत होता है—

"बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहत काकी है बेटी नहीं कहूँ ब्रज खोरी॥
काहे को हम ब्रजतन आवति खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवणनि नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलो संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी॥'

राधिका का परिचय पूछा। अब श्याम अपना परिचय दे रहे हैं और राधा से कभी-कभी अपने यहाँ खेलने आने के लिए कह रहे हैं। दोनो की अल्प वय है। पर इसी वय में दोनो का कितना प्रेम हो गया है—

"प्रथम सनेह दुहुन मन जान्यो।
नैन-सैन कीनी तब बातैं गुप्त-प्रीति शिशुता प्रगटान्यों॥
खेलन कबहुं हमारे आवहु नंद-सदन ब्रज गॉव।
द्वारे आइ टेरि मोहिं लीजो कान्ह है मेरो नाउं॥
जो कहिये घर दूरि तुम्हारो बोलत सुनिये टेर।
तुमहि सौंह ब्रजभानु बबा की प्रात साँझ इक फेर॥
सूधी निपट देखियत तुमकों ताते करियत साथ।
सूर श्याम नागर उन नागरि राधा दोउ मिलि गाथ॥"

अब अब कभी-कभी दोनो मिल लेते हैं। घर पर कोई कुछ

पूछता है तो कुछ बहाना कर दिया जाता है। दोनो एक-दूसरे को जाने देना नही चाहते हैं। इसी विषय की ज़रा राधिका की सुकुमार सूक्तियाँ देखिये—

"नंद बबा की बात सुनो हरि।
मोहि छाड़ि कै कबहुँ जाहुगे ल्याऊँगी तुमको धरि॥
भली भई तुम्हें सौंप गये मोहि जानि न दैहों तुमको।
बाँह तुम्हारी नेक न छाँडि हौ महरि खीझि है हमको॥
मेरी बाँह छाँडि दै राधा करत उपर फट बातै।
सूर श्याम नागर नागरि सों करत प्रेम की घातै॥"

कृष्ण ने राधिका की नीबी पकड धीरे से श्रीफल पर कर-सरोज रखा। इतने ही में यशोदा आ गई। श्याम झट से बालक बन यशोदा माता से राधिका से झगडा करते हुए कहते है—देखो माता इस ने मेरी गेंद चुरा ली है—

"नीबी ललित गही यदुराई।
जबहि सरोज धरो श्रीफल पर तब यशुमति गइ आई॥
तत्क्षण रुदन करत मनमोहन मन मे बुधि उपजाई।
देखो ढीठ देत नहि माता राखो गेंद चुराई॥
काहे को झकझोरत नोखे चलहु न देहु बताई।
देखि विनोद बाल सुत को तब महरि चली मुसकाई॥"

धीरे-धीरे उनका यह श्रृंगार-रस-पूर्ण-विनोद बढता जाता है। कृष्ण-राधिका नये-नये उपाय ढूँढ़ मिल लेते है। एक दूसरे पर रीझते और खीझते है। जब से दोनो मिले हैं, घर पर रहना अच्छा नहीं लगता। कभी-कभी श्याम राधिका की उढनियाँ उठा लाते और

वह इनका पीताम्बर ओढ़कर चली जाती हैं। इसी पर दोनों के घर बहानेबाजी चलती है। राधिका को विह्वल देख उसकी मा पूछती है—"बेटी, तू आज कैसी विह्वल दिखाई देती है। खेलने जब गई थी तब तू ऐसी नहीं थी।" राधिका कहती है—आज खेलते-खेलते मेरी तबीयत खराब हो गई पर भला करे उस नंद-सुत का जिसने ऐसी शीतल भारी जल सींचा कि मेरा हृदय ठंडा हो गया है। अभी तक इधर-उधर ही ये लोग मिल लिया करते थे। एक दिन खेलने के बहाने से ही राधिकाजी नंद के यहाँ खेलने आ गईं। राधिकाजी ने कान्ह के विषय में पूछा। कान्ह भी विचित्र और विनोद-पूर्ण परिचय देते हैं—

"सुनत श्याम कोकिल सम बाणी निकसै अति अतुराई हो।
माता सों कछु करत कलह हरि सो डार्‌यो बिसराई हो॥
मैया री तू इसको चीन्हति बारंबार बताई हो।
यमुना तीर काल्ह मैं भूल्यो बाँह पकरि लै आई हो।
आवति यहाँ तोहि सकुचति है मैं दै सौंहि बुलाई हो॥
सूरश्याम ऐसे गुण आगर नागरि बहुत रिझाई हो॥"

कृष्ण का परिचय देखते ही बनता है, कितना बुद्धि-पूर्ण है। राधिकाजी शरमा रही थीं। बड़ा साहस कर तो वे यहाँ तक आ पाई थीं। कहीं इसी संकोच-वश वापिस लौट जातीं तो श्याम को उनका सम्मिलन-सुख कहाँ प्राप्त होता, अतएव श्याम भी किस बुद्धिमानी से इधर माता को परिचय देते हैं और उसमें अपने ऊपर राधिका का उपकार जमाते हैं। भला ऐसी उपकार करनेवाली राधिका को क्या यशोदा दूर से ही भगा देतीं? इधर इस कथन से राधा का संकोच भी दूर हो गया। सूर की सूझ कितनी दूर तक पहुँचती है, यह यहाँ देखने योग्य है।

राधिका अब प्रतिदिन आने लगी है। माता यशोदा की आज्ञा भी राधिका को हो गई है। दोनो तरह-तरह के खेल नित्य-प्रति खेला करते हैं। कभी खेलते-खेलते दोनो लड भी पडते है। एक दिन दोनो की लड़ाई हुई। कृष्ण ने राधा की चूनरी फाड़ डाली। कभी जब वे प्रसन्न होते, राधा को तिलक कर देते हैं। हृदय तो उनका मिला हुआ है; किंतु कभी-कभी ये अल्पवयस्क बालक-बालिका बाह्य रूप से यह प्रदर्शित करने के लिए कि उनमे प्रेम नहीं अपने माता-पिता को बड़ी ही युक्तियों से बनाया करते है। राधा-जननी और यशोदा उनके घनिष्ठ प्रेम को लक्षित न कर पायें, यही इस समय उनका उद्देश्य रहता है। इसी लिए उनके मनोभावों को उभाड़कर वे अपनी स्नेह-ग्रन्थि और भी कडी करते जाते है। राधा-अपनी माता से कहती है—

"मेरे आगे महरि यशोदा मैया री तोहिं गारी दीन्ही।
बाकी बात सबै मैं जानति वै जैसी-तैसी मैं चीन्ही॥
तोको कहि पुनि कह्यो बबा को बडो धूर्त वृषभानु।
तब मैं कह्यो ठग्यो कब तुमको हँसि लागी लपटान॥
भली कही तैं मेरी बेटी लयो आपनो दाउ।
जो मुँहि कह्यो सबै उनके गुण हंसि हंसि कहत सुभाउ॥"

इधर राधिका का यह हाल था। उधर श्याम भी माता को यह दिखाने के लिए कि राधिका से मेरी प्रीति नहीं है, अथवा जैसा बच्चे बहुधा बालस्वभाव-वश कहा करते हैं, कृष्ण भी यशोदा से समझा-समझाकर कहते हैं—

"कहत कान्ह जननि समुझाई।
जहाँ तहाँ डारे रहत खिलौना राधा जनि ले जाइ चुराई।

साँझ सवारे आवन लागी चितै रहति मुरली तन आइ।
इन्हीं मे मेरे प्राण बसनु हैं तेरे माथे नेकु न भाइ॥"

माता यशोदा अच्छी-अच्छी हृष्ट-पुष्ट गायों का दूध गर्म कर और फिर ठण्डा कर कृष्ण को पिलाना चाहती है, पर कृष्ण भी मचल-मचलकर विशेष गायों का दूध ही पीने की इच्छा प्रकट करते। कभी कहते हैं, मैया, मैं उस काली गाय का दूध पिऊँगा। कभी कहते—उस धौरी गाय का दूध मैया, मुझे अच्छा लगता है। फिर कभी कृष्ण गाय चराने जाने के लिए मचलते हैं। मैया बहुत समझाती हैं कि भैया तुझे वहाँ धूप लगेगी, भूख लग आयेगी, पर कृष्ण कब मानने लगे। वे कहते हैं—नहीं मैया, मुझे धूप नहीं लगेगी। वहाँ मैं वन-फल खा लूँगा तो मेरा पेट भर जायगा। बड़ी हठ करते हैं और वन को जायें बिना नहीं मानते। गाय चराने चले तो गये, पर संध्या को जब वापिस लौटे तो मुँह सूखा हुआ था। यशोदा ने झपटकर गोद में उठा लिया। पूछने लगी—कान्ह तू मेरे लिए भी कुछ लाया। यह पूछ नहीं पाई कि शीघ्र ही ममता-वश श्याम से माखन-रोटी खाने को पूछने लगीं—

"यशुमति दौरि लए हरि कनियाँ।
आज गयो मेरो गाय चरावनि हौं बलि गई निधनियाँ॥
मो कारण कछु आन्यो है बलि वन-फल तोरि कन्हैया।"

इसके पश्चात कई पृष्ठों तक काली-मर्दन एवं दावानल पान की कथा है। श्याम फिर गाय चराने जाने लगे। जंगल में गायें इधर-उधर चली जाती हैं। सन्ध्या समय उन्हें इकट्ठी करके घर पर लाना होता है। जब वे बहुत दूर निकल जाती हैं, निकट से दिखाई नहीं देतीं, तब किसी बड़े वृक्ष पर चढ़कर जोर-जोर से उन्हें बुलाना पड़ता है। ग्राम्य जीवन का जिन्हें अनुभव है, वे इस बात को भलीभाँति जानते हैं।

मुरली-माधुरी

श्याम बड़े कार्य-तत्पर है। भला इनके सिवाय वृक्षों पर चढकर गायों को कौन बुलाये ? सब इन्हीं से प्रार्थना करते है। ये पुकारने के लिए मुरली बजाते हैं। सहज स्वभाव से उधर व्रज-वनितायें श्याम-बॉसुरी पर मुग्ध हो वन को भागी आती है। ऐसे प्रसंगों के चित्र बड़े मनो-मुग्धकारी है।

श्याम की इस मुरली का प्रभाव कम नही है। बेचारी व्रज-नारियॉ तो स्त्रियॉ ही हैं। इसका प्रभाव तो बडा व्यापक है। पशु-पक्षी, ऋषि-मुनियों तक पर पडता है। बस श्याम के अधर पर रखने की ही देर है कि उसका प्रभाव अलौकिक पड़ता है।

श्याम की सुन्दरता एवं मुरली मधुरता का सूर ने बडा ही विशद वर्णन किया है। पद के पश्चात् पद पढते जाइये, आनन्द की वृद्धि होती ही जायगी। कहीं शिथिलता का नाम नहीं और न कहीं जी ऊबेगा।

मुरली का प्रभाव भी विशद है।

"तब लगि सबै सयान रही।
जब लगि नवल किशोरी मुरली बदन समीर बही।
तबही लौं अभिमान चातुरी पतिव्रत कुलहि चही॥
जब लगि श्रवण रन्ध्र मग मिलिकै नाही इहै बही।
तब लगि तरुनी तरल चंचलता बुधि बल सकुचि रही॥
सूरदास जब लगि वह ध्वनि सुनि नाहिन व्रनत कही॥"

जिसकी मुरली इतनी प्रभावशाली है भला उस पर भोली-भाली व्रजनारियॉ कैसे मोहित न होगी। धन्य है माता यशोदा, धन्य है पिता नन्द, धन्य है वह मुरली और वह ग्राम, जहॉ के निवासी

श्रीकृष्ण की रूप-छवि के रस का पान किया करते हैं। उस ग्राम की वृक्ष-लताएँ, धूलि-कण-कण, अणु-अणु सब ही हमारे पूजा के पात्र हैं। देवताओं के स्वर में हमारा हृदय भी यह कह उठता है—

"हम न भई वृन्दावन रेनु।
जिन चरणन डोलत नंद-नंदन नित प्रति चारत धेनु॥
हमते धन्य परम ए द्रुम वन बालक बच्छ अरु धेनु।
सूर सकल खेलत हँस बोलत ग्वालन संग मथि पीवत फेनु॥"

एक दिन श्याम दूध दुह रहे थे कि राधा आई। कृष्ण ने जब राधा को देखा तो उन्हें प्रेमाधिक्य के कारण सात्विक भाव हो आया। चुहलबाजी तो तरह-तरह की नित्य-प्रति हुआ करती थी। कृष्ण सदा ऐसे मौक़ों की तलाश में रहते। फिर मित्र-मित्र व सहेली-सहेली के खिझाने में भी आनन्द आता है। बस, कृष्ण ने भी राधा के कहने से राधा की गायें तो दुह दीं, पर दोहनी के लिए अब उसे चिढ़ा रहे हैं। बार-बार राधा हाथ-पाँव जोड़ती है, "हा-हा" करती है। राधा की 'हा-हा' में भी कृष्ण को हर्ष होता है। हँस पड़ते हैं और कहते हैं अच्छा एक बार और "हा-हा" कह दो तो दे दूँगा। राधा को मानना ही पड़ा। बिना दिल के उसे "हा-हा" कहना ही पड़ा। बस कृष्ण की मुराद पूरी हुई। उन्होंने उसे दोहनी दे दी।

राधा की यह दशा हो गई कि—

"यह सुनि कै चकृत भई प्यारी धरणि परी मुरझाई।
सूरदास तब सखियन उर भरि लीनी कुँवरि उठाई॥"

"डसीरी माई स्याम भुजंगम कारे।
मोहन मुख मुसकानि मनहु विष जात मरे सो मारे॥

फुरै न मन्त्र-यन्त्र दइ नाहीं चलै गुणी गुण डारे।
प्रेम प्रीति विष हिरदै लागी डारत है तनु जारे॥
निर्विष होत नही कैसेहु करि बहुत गुणी पच हारे।
सूरश्याम गारुडी बिना को सो शिर गाडू टारे॥

ऐसे-वैसे सर्प ने नहीं डसा है, भुजंग ने डसा है। उस पर भी काले भुजंग ने। भला काले भुजंग का विष कैसे उतर सकता है? अच्छे अच्छे जंत्री-मन्त्री क्यो न आओ, उसका उपचार तो केवल एक है। वह नन्द सुत ही है जो उसे जीवित कर सकते है, अतएव माता भी क्या करे। जिस काले ने काटा है वही जिलायेगा। वही भुजंगम है और वही गारुडी।

चीरहरण के सूर ने दो प्रसंग कहे हैं। एक बार तो जब गोपियाँ नहा रही थीं, ये उनके वस्त्र लेकर वृक्ष पर चढ गये और उनको नग्न नहाते हुए देखने लगे। गोपियों ने अपने चीर माँगे पर उन्होंने तब तक नहीं दिये जब तक कि वे नग्न होकर बाहर न निकलीं। इसी प्रकार एक बार यमुना किनारे से उनके चीर लेकर भागे और उनके चिल्लाने पर लोगों ने जब सुना तब यह छोडकर भागे। ये वर्णन अत्यन्त अश्लील हैं। पर सूर बार-बार कृष्ण को भगवान भी गोपियों द्वारा कहलाते गये हैं। साथ ही साथ यह भी कहलाते गये है कि ये भगवान हैं, इनसे कुछ छिपा नही है और पूर्व भव मे तो गोपियों ने ऐसा ही वरदान माँगा था। ये वर्णन अश्लील अवश्य हैं; किन्तु मनुष्य जब तल्लीन होकर गोपियों और कृष्ण के सम्बन्ध में जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध देखता है, वहाँ वासना का आभास तक नहीं दिखाई देता। अश्लील और अरुचिकर यह केवल इसी आधार पर कहा जा सकता है कि इससे सर्वसाधारण जनता में जो तल्लीनता नहीं

प्राप्त नहीं हो सकती है, कुरुचि एवं कुत्सित वासना के भाव जाग्रत हो सकते हैं। यहाँ केवल इन प्रसंगों को काव्यानन्द की ही दृष्टि से पढ़ना चाहिये। सदैव यह ध्यान बनाये रखना चाहिये कि सूर महात्मा थे और इन पदों में भक्ति-भाव कूट-कूटकर भरा हुआ है। जहाँ भक्ति-भाव एवं तन्मयता होगी, वहाँ कुत्सित भावना कभी अपना स्थान नहीं कर सकती।

इसके अनन्तर पनघट का किस्सा प्रारम्भ होता है। यह भी अश्लीलता से खाली नहीं, पर बड़ा मनोरंजक है। श्याम की धृष्टता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। ब्रजनारियाँ खीझती हैं, तंग हो जाती हैं पर उन्हें बुरा नहीं लगता। कभी-कभी मिथ्या ही या लोक-लाज-वश वे माता यशोदा को उलाहना देने अवश्य पहुंच जाती हैं, पर उनके हृदय में उलाहना देने की अभिलाषा नहीं। प्रत्युत एक बार और कृष्ण से भेंट और दर्शन होने की तीव्र उत्कंठा रहती है। श्याम का तो यह दैनिक कार्य ही हो गया है कि पनघट पर जाना और आते-जाते छेड़-छाड़ करना। किसी की गगरी फोड़ देना तो किसी के पाँव में कंकरी मारकर उसे लँगड़ा कर देना। किसी का मार्ग रोककर खड़े हो जाना। जब कोई शिकायत करने यशोदा के पास जाये और वे इनको डांटें तो इनका बड़ा साधु बन जाना और कह देना कि माता ये ही तो मुझे तंग करती हैं और मुझसे गागरी उठवाती हैं और ? मुझे मारती हैं और गाली देती हैं।

इसके पश्चात् गोवर्धन पर्वत उठाने एवं इन्द्र-अभिमान-हरण के विषय में सूर ने लिखा है। नन्द वरुण को ले गये हैं। फिर दानलीला का वर्णन है। दानलीला भी अश्लील है। कृष्ण गोपियों से गोरस (इन्द्रिय-सुख) का ही दान माँगते हैं। इन शब्दों में श्लेष होने के कारण उनका दान माँगना भी अच्छा मालूम पड़ता है। एक गोपी से

कृष्ण गोरस माँग रहे हैं। बेचारी वन मे से अकेली जा- रही थी। तंग आ गई। वहीं कृष्ण से प्रार्थना कर रही है-। उसकी विवशता में, उसके भोलेपन में भी चित्त आकर्षित हो ही जाता है ; पर कृष्ण डटे हुए हैं। वह कृष्ण को समझा रही है—

"ऐसो दान न माँगिये जो हम पै दियो न जाइ।"

इस तरह विचित्र विचित्र ढंग से खोज-खोजकर नवीन-नवीन दान नित्य प्रति कृष्ण गोपियों से माँगा करते है। श्याम गो-रस-दान माँग रहे थे। सखी इन्हें दान देना अस्वीकार कर रही थी। नौबत यहाँ तक आ पहुँची कि दोनो मे छीना-झपटी होने लगी। छीना-झपटी में श्याम का पीताम्बर उसकी छाती से उलझ गया। बस फिर क्या था।

"प्यारी पीतांबर उर झटक्यो।
हरि तोरी मोतिन की माला कछु गर कछु कर लटक्यो॥
ढीठो करन श्याम तुम लागे जाइ गही कटि फेंट।
आपु श्याम रिस करि अंकम भरि भई प्रेम की भेंट॥
युवतिन घेरि लियो हरि को तब भरि-भरि धरि अँकवारि।
सखा परस्पर देखत ठाढ़े हँसत देत किलकारि॥

औरों से दधि-दूध मांगते-मांगते तो हरि अब थक से गये मालूम पडते हैं, तभी तो राधा के पास पहुँचे और कहने लगे कि कई मटकियो का तो खूब माखन उड़ाया अब तुम्हारी मटकी का तो बताओ कैसा लगता है। राधा तो यह देख ही रही थी कि मुझसे कब माँगें। उसका भी मनोरथ पूर्ण हुआ। चट से दौडी और अच्छा ताजा मक्खन ले आई। कृष्ण ने राधा का दही भी खाया। राधा का दधि-माखन कृष्ण को सबसे अच्छा लगा—

"लै दीन्हों अपने कर हरि मुख खात अल्प हँसि हेरो ॥
सब दिन से मीठो दधि है यह मधुरे कह्यो सुनाइ ।
सूरदास प्रभु सुख उपजायो ब्रज ललना मन भाइ ॥

कारी, धोरी हर प्रकार की गाय का रस वे ले चुके हैं ; किंतु उनका उद्देश्य बस यही है—

"गोपिन हेतु माखन खात ।
प्रेम के वश नंदनन्दन नेक नही अघात ॥"

गोपियों को जब बहुत तंग कर चुके, उन्हें प्रेम से आह्लादित कर चुके, तब वे अंत में अपना अवतार लेने का उद्देश्य प्रकट कर देते हैं। कह देते हैं कि तुम्हारे कारण ही तो मैं वैकुंठ त्याग कर यहाँ आया हूं। तुम्हारा दान मैं ले चुका। तुम्हारी प्रेम-परीक्षा हो चुकी। अब तुम घर जाओ। निम्न-लिखित पद से यही बात प्रकट होती है। इससे यह भी प्रकट होता है कि तुलसी के समान सूर भी यह नहीं भूलते हैं कि उनका सखा कृष्ण अवतार भी है। कई प्रसंगों से इस कथन की पुष्टि होती है।

"सुनहु बात युवती इक मोरी।
तुमते दूर होन नही कतहूँ तुम राखी मोहि घेरी ॥
तुम कारण वैकुंठ तजत हौं जनम लेन ब्रज आई।"

इधर यह प्रेम-कथा परिपूर्ण हो ही नहीं पाई थी कि कृष्ण ने कंस-वध आदि कार्यों के लिए मथुरा जाने का प्रसंग छेड़ दिया। उनका कहना तो दूर रहा यहाँ ब्रजबालाओं के होश-हवास ही गायब हो रहे हैं। देखते-देखते इतने थोड़े समय ही में उनका इतना प्रेम हो गया है कि वे चलने का समाचार सुन इतनी विह्वल हो गईं कि

बेसुध यहाँ-वहाँ घूमने लगी है। दधि दूध बेचने को निकलती हैं, पर रीती मटकी लेकर ही चल देती है। यदि भाग्यवशात् भरी मटकी घर से ले चलीं और कोई बुलाता हो तो भी उनके श्रवणों में तो कृष्ण प्रेम-रस-नाद ऐसा गूँज रहा है कि उन्हें और कुछ सुनाई ही नही देता है। कोई बुलाता है, बुलाता रहे; कुछ चिन्ता नही। सीता-हरण के पश्चात् तुलसी के राम के समान चेतना-शून्य-सी हो द्रुम-लताओं को ही दही, दूध, माखन बेचती फिरती है। जहाँ बैठ रहीं वहीं बैठी रह गईं। 'हज़रते दाग़ जहाँ बैठ गये बैठ गये।' चल रही है तो चल ही रही हैं। जिस गली में से निकलती है उसी में से बार-बार आने-जाने लगती है। जब कहीं सुध आती है तो समय बे समय घर पर पहुँचती हैं। घर पर खूब ताड़ना होती है, वह भी सहती हैं, सुनती हैं। लोक-लाज का तो डर ही निकल गया है। कोई कुछ भी कहे। प्रेम-रंग में सब बातें ऐसी अन्तर्हित हो गई हैं कि कोई दूसरी बात, कोई दूसरा रंग ही नहीं दिखाई देता है। इन विरह से व्याकुल व्रज-वनिताओं की वियोग-दशा का कुछ आभास इस पद से प्रकट होता है—

> "गोरस लेहु री कोउ आइ।
> द्रुमन सों यह कहति डोलति कौन लेइ बुलाइ॥
> कबहुँ यमुना-तीर को सब जात हैं अकुलाइ।
> कबहुँ बंसीवट निकट जुरि होत ठाढ़ी धाइ॥
> लेहु गोरस दान मोहन कहाँ रहे छिपाइ।"

कहाँ तो पहिले श्याम को उलाहना दिया जाता था। दान माँगने पर हठ प्रकट की जाती थी। दही-दूध छुडाने पर, मटकी फोड़ने पर क्षणिक बाह्य क्रोध प्रकट किया जाता था। कहाँ अब श्याम को दान देने बुला रही हैं। आज तो वे उन सब बुराइयों को सहने के

लिए भी उद्यत हैं। कोई उनसे कुछ कहो, माता-पिता चाहे रुष्ट हों कुछ चिंता नहीं। लोग यदि उपहास करें, तो करने दो, श्याम का प्रेम तो छुटाये से नहीं छूटता। परलोक भी नष्ट हो जाय तो परवाह नहीं। बस, इसी दशा का वर्णन एक सखी निम्नलिखित दो अंशों में कर रही है जिसमें उनकी वियोग-दशा की परम चिन्ता का अनुमान हम कर सकते हैं—

> "नन्दलाल से मेरो मन मान्यो कहा करैगो कोई री।
> मैं तो चरन कमल लपटानी जो भावै सो होई री॥
> आप रिसाइ माइ घर मारे हँसै विरानो लोग री॥"

कारण यह कि उपहास से यदि डरूं तो कैसे बन सकता है क्योंकि—

> "कैसे रह्यो परै री सजनी एक गाँव को वास।
> श्याम मिलन की प्रीति सखी री जानत सूरजदास॥"

इसलिए बस अब तो यह ध्रुव निश्चय कर लिया है कि—

> "सब या ब्रज के लोग चिकनियाँ भेटें भायें घास।
> अब तो यही बसी री माई नहिं मानेंगी त्रास॥"

इस विरह-वर्णन के पश्चात् सूर फिर कृष्ण-राधा का रूप-वर्णन, कहीं नखशिख-वर्णन करने लग जाते हैं। सूरसागर में यद्यपि कथा का क्रम है, किन्तु वर्णन का क्रम नहीं है। इसी लिए पुनः-पुनः उसी प्रकार के पद मिलते हैं, किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि उनमें पुनरावृत्ति है अथवा वे अरोचक हो गये हैं। रोचकता, सुन्दरता, पदमाधुरी, भाव-प्रवणता इसमें उसी प्रकार से बनी रहती है। इसमें

इस भाव के पद वे पहिले भी कह चुके है। उसी भाव को उन्होंने फिर उठाया है पर उसमें वर्णन-शैली की मोहकता के कारण कुछ भी अरोचकता नहीं है।

> "माखन की चोरी तैं सीखे करन लगे अब चितहुं की चोरी।
> जाके दृष्टि परै नंद-नंदन सोउ फिरत गोहन डोरी-डोरी॥"

ऐसा क्यों होता है इसका उत्तर भी सूर बडी खूबी के साथ देते हैं—

> "क्यों सुरझाऊं री नन्दलाल सो अरुझि रह्यो मन मेरो।"

चोर जब चुरा ले जाता है तब यही अभिलाषा रहती है कि उससे चोरी का माल लौटा लिया जाय। पर हृदय या हृदय-सर्वस्व वस्तु ले जाय-तब तो उसके लिए कठोर दंड की व्यवस्था होनी चाहिये। चित-चोर श्याम को भी एक व्रजबाला कितने चित्ताकर्षक ढंग मे पकड रखने के लिए कहती है—

> "चित को चोर अबहि जो पाऊँ।
> हृदय कपाट लगाइ जतन करि अपने मनहि मनाऊं॥
> जबहिं निशंक होत गुरुजन ते तेहि औसर जो आवै।
> भुजनि धरौ भरि सुदृढ मनोहर बहुत दिनन को फल पावै॥
> लै राखौं कुच बीच चापि करि प्रतिदिन को तन ताप बिसारौं।
> सूरदास नंद-नंदन को गृह-गृह को डोलनि को श्रम टारौं॥"

परोक्ष रूप से कैसी सुन्दर उक्ति वह गोपिका कह गई है? वह अपने चित्त का चोर ढूंढ रही थी। आखिरकार ढूँढ़ते-ढूँढते उसने चोर को पकड़ ही लिया। चित-चोर जब मिल गया तब उसे पकडकर

क्या कोई छोड़ देता है ? वह चोर ही नहीं था, सिरजोर था। वह चोर ऐसा चोर नहीं था जो कठिनाई से मिले। समस्त ब्रज की गलियों में चोरी करके ढीठ बना फिरता था। ब्रजबाला ने उसे जोर से पकड़ लिया और उससे कहने लगी—लला, अब बचकर कहाँ जाओगे ? अब तो तुम्हें मेरा चित्त, जिसे तुमने चुरा लिया था देना ही पड़ेगा। अब तुम नहीं छूट सकते। चाहे तो सीधे दे दो, चाहे तो टेढ़े। तुम्हें चाहे सुख हो, चाहे दुःख हो। अब मैं न मानूंगी। पर चोर ने चोरी कर ली थी और वह ऐसा धृष्ट था कि सीधे से बात ही नहीं करता था। इसी लिए उन्हें इतना सुनना पड़ा। वह कहती है तुम्हारा और किसी से पहिले काम पड़ा होगा। आज तो मुझसे काम पड़ा है—

"मैं तुमरे गुण जानत श्याम।
औरन को मनचोर रहे हो मेरो मन चोरे किहि काम॥
वे डरपति तुमकौं धौं काहे मोको जानत वैसी वाम।
मैं तुमको अबही बाँधौंगी मोहि बूझि तब धाम॥"

ठीक है। भला वह कब दया करे। जिसका चित्त श्याम ने कठोरता से चुरा लिया और धृष्टता यह कि वापिस देना ही नहीं चाहते। चोरी में ही मुकरे। इसी लिए जब उस ब्रजबाला के फंदे में पड़ गये तो उसने छोड़ना ही न चाहा। उसे तो ऐसा मनोहर क्रोध आ रहा था कि यदि और कोई उसके बीच में बाधा देता तो वह उसकी भी खबर लिये बिना न छोड़ती। कुल-कानि बीच ही में आकर कृष्ण को छुड़ाने का उपाय करने लगी। पर आज तो वह अपनी परम प्रिय सखी का कहना भी नहीं मानेगी। यदि उसने अधिक प्रयत्न किया तो उससे झगड़ा तक कर लेगी। और यही तो वह अपनी सखी कुलकानि से कहती है—

"सुन री कुल की कानि लालन सो मैं झगरो माँडौंगी।

मेरे इनके कोउ बीच परो जिनि अधर दशन खाडौगी ॥
चतुर नाइक सौ काम पर्‌यो है कैसे ह्वै छाडौगी ।"

राधा तो उनको परम प्रिय थी ही। एक दिन उसका अंक भरना राधा की सखियों ने देख लिया। वे पूछने लगी। राधिका चतुरता से उत्तर देकर उन्हें बहका देती है। उनसे वह कहती है मैं तो तुम्हारा मार्ग देख रही थी। मेरा ध्यान तो तुम लोगों की ओर था। मै क्या जानूं कि उस ओर से मनमोहन आ रहे है? वे तिरछे-तिरछे आकर मेरे पास से निकल गये। घर देर से पहुँची, क्योंकि मार्ग मे यही सोचती जा रही थी कि अब कृष्ण से किस प्रकार भेंट हो। सोचते-विचारते उसने एक अच्छा उपाय सोच ही लिया। अपना हार छिपाकर रख लिया। जब घर पहुँची तो माता ने हार उसके गले मे नही देखा। देर से पहुँचने के लिए तो वह क्रुद्ध हो ही रही थी, अब हार न देखकर तो आगबबूला हो गई और राधिका को तरह-तरह से ताडना देने लगी। कहने लगी कि तुझे अब आज से आभूषण पहिनने को नही मिलेंगे। बता तू कहाँ गिरा आई? राधा ने कहा—मुझे नहीं मालूम वह यमुना मे गिर गया या किसी सखी ने उतार लिया। सखी का नाम लेते ही मा के मुँह से निकल गया—जा, जहाँ से मिले वहाँ से ढूँढ़कर ला, नही तो तुझे घर मे नही आने दूँगी। राधा तो यह चाहती ही थी। राधा चली हार लेने और पहुँची नंद के यहाँ और लगी 'ललिता' 'ललिता' पुकारने। कृष्ण उस समय भोजन कर रहे थे। समझ गये मेरे कथनानुसार राधा आ गई है। झट से भोजन छोडा और यह बहाना करके निकले कि कोई गाय वन मे 'ब्या' रही है और मेरे सखा वही जा रहे हैं। कृष्ण भाग खडे हुए और राधिका से मिल अपना मनोरथ सिद्ध किया। इसके पश्चात् जब राधिका वापिस लौटी तो रास्ते मे हार अपनी साडी में से निकाल लिया और जाकर माता को दे दिया।

संयोग-शृंगार के इस प्रकार के कई स्थल सूरसागर में है। एक दिन राधा को कुछ गर्व हो आया इसलिए कृष्ण उसके द्वार पर से निकलकर चले गये। ज्योंही राधा को यह बात विदित हुई, त्योंही वह द्वार पर आई और श्याम के न मिलने से पश्चात्ताप करने लगी। उसे बड़ा दुःख हुआ। वह कहती है और पछताती जाती है कि आज मैंने कहाँ से गर्व कर लिया। इसी प्रकार एक दिन राधा दर्पण में अपनी सुंदरता देख रही थी। कृष्ण भी वहीं आकर खड़े हो गये। एक बार उन्होंने उसकी आँखें मूँद लीं।

श्याम मुरली बजाने में चतुर थे ही, उनकी मुरली ने ब्रज-वासियों पर जादू ही कर दिया। कृष्ण का दैनिक-कार्य वन-वन में बंशी बजाकर ब्रजनागरियों को विमुग्ध करना था। राधिका भी उनकी ब्रज-माधुरी पर मुग्ध है। एक दिन तो राधिका स्वयं बाँसुरी सीखने के लिए हठ करने लगी। बोली— श्याम जिस प्रकार से होगा तुम्हें प्रसन्न करूँगी, पर आज तो तुमसे बाँसुरी ले ही लूँगी। श्याम क्यों देने लगे! राधिका के हठाग्रह में श्याम का मनोरञ्जन था, पर राधिका भी बंशी लेने पर तुली हुई थी—

"मुरली लई कर ते छीनि।
ता समय छवि कहि जाति न चतुर नारि नवीनि॥
कहत पुनि-पुनि श्याम आगे मोहिं देऊ सिखाइ॥
मुरली पर मुख जोरि दोऊ अरस-परस बजाइ॥"

इनका वनोपवनों में सखियों समेत कौतुक-क्रीड़ा करना भी कितना सरस, भावुकता-पूर्ण और आनंदातिरेक का चिह्न है। कभी कृष्ण राधिका की आँखें पीछे से आकर बंद कर लेते हैं, कभी किसी दूसरी सखी की। कभी ललिता के गृह पर जाकर उसे विमोहित

करते है तो कभी किसी दूसरी के यहाँ। सखियों के नेत्रों ने भी बड़ा धोखा उनके हृदय के साथ किया है। जब सखी-सखी मिलती है तो सिवाय श्याम के आकर्षण-सम्मोहन के अन्य और कोई प्रसंग ही नही चलता।

कोई कहती है—

"सजनी मनहि का काज कियो।
आपुन जाइँ भेद करि हमसो इन्द्रिह बोलि लियो॥"

कोई कहती है—

"मेरे जिय इहई सोच परयो।
मन के ढंग सुनो री सजनी जैसे मोहि निदरयो॥
आपुन गयो पंच संग लीन्हे प्रथमहि इहै करयौ।
मोसो बैर प्रीति करि हरि सों ऐसी लरनि लरयो॥"

यह तो मन की गति हुई, अब नेत्रों का हाल सुनिये। एक दूसरी सखी क्या कहती है—

"मन के भेद नैन गये माई।
लुब्धे जाई श्यामसुन्दर रस करी न कछू भलाई॥
जबहिं श्याम अचानक धाये इकटक रहे लुभाई।
लोभ सकुच मर्यादा कुल की छिनही मे बिसराई॥"

वास्तव में ये पद भी अपने विषय के वर्णन मे अनुपम हैं। इनके पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ सूर भावुकता के आवेश में

अश्लील से अश्लील पद लिख गये हैं, वहाँ वियोग-वर्णन भी उनका अनोखा ही है। संयोग-शृंगार के समान विप्रलंभ-शृंगार भी उनका अद्वितीय है। सूर ने यदि केवल संयोग-शृंगार ही लिखा होता, तो वे अवश्य अश्लीलता-दोष के भागी होते। किन्तु जितना सजीव उनका संयोग-शृंगार है, उससे कहीं अधिक मार्मिक विप्रलंभ। सूर की अंतःसूक्ष्मवृत्तियाँ वियोग का भी उतना हृदय-स्पर्शी चित्र खींचती हैं। उनमें तरह-तरह के रंग भर-कर उसे चरम कोटि पर पहुँचा देती हैं। इससे केवल यही प्रकट नहीं होता है कि व्रजबालाओं, एवं यशोदा व नंद आदि का उन पर क्षणिक, स्वार्थमय अथवा आनंद-उपभोगकारी प्रेम ही था; किंतु उस प्रेम की पराकाष्ठा हमें वियोग-जन्य अवस्था में ही विशेष रूप से देखने को मिलती है। वियोग-वह्नि में वह प्रेम और भी निखर आया है। स्पष्ट, व्यापक, तल्लीनता एवं अनन्यतामय भी हो उठा है। इसकी कथा इस प्रकार है कि अक्रूरजी यह जानकर कि अब कंस-वध का समय निकट आ रहा है, कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिए गोकुल में आते हैं। नियति-वश कृष्ण वहाँ जाने के लिए प्रस्तुत होते हैं, पर व्रजवासियों का ऐसा प्रेम है कि अक्रूर भी इस दुविधा में पड जाते हैं कि कृष्ण को ले जायें या नहीं। अंत में उन्हें ले जाते हैं। इधर समस्त व्रज वियोग-वह्नि में त्रस्त होने लगता है। यशोदा माता के दुःख का पार नहीं। वे नंद से आग्रह कर उन्हें मथुरा भेजती हैं। नंद कृष्ण को देख अवश्य आते हैं, पर वे वहाँ उन्हें राजकार्यों में इतना निमग्न पाते हैं कि उन्हें लाने का साहस नहीं होता। जब तक वे वापिस नहीं लौटे तब तक तो यशोदा एवं अन्य व्रजवासी बेहाल थे, पर लौट आने पर कुछ पार ही नहीं। किसी प्रकार थोड़ा भी धैर्य जो वे अपने हृदय-स्थल में छिपाये थे, अब नहीं रहा। हृदय का बाँध एकदम टूट गया। वे इतने विह्वल हो गये कि अपना-पराया छोड़ बस एक कृष्ण का ध्यान

सूर के भ्रमरगीत

ही उन्हें बना रहने लगा। उनकी वियोग-जन्य दशा का वर्णन करना शक्ति के बाहर की बात है। इसका समाचार कृष्ण को मिलता रहता है। उन्हें ब्रजवासियों मे प्रेम भी है। उनके वियोग का दुःख भी है, पर वे कठोर कर्त्तव्य और राजनीति की बेडियाँ पहिने विवश है।

यह बात नही है कि श्रीकृष्ण को अपने प्यारे गोकुल अपनी प्यारी मा, बाबा, राधिका तथा अन्य ब्रजबालाओं का ध्यान न हो। जब कभी राज्य-कार्यों से निवृत्त होते, तभी गोकुल उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता। मथुरा मे राज्य-वैभव का अभाव नही है ; किन्तु गोकुल की रज-रज का स्मरण उन्हें बना हुआ है। कभी-कभी तो वे सोचने लगते हैं कि नन्द बाबा अवश्य ही कठोरहृदय हो गये हैं, तभी तो उन्होंने अभी तक सुधि न ली। मा यशोदा ने भी उन्हें स्मरण नहीं दिलाया। कभी सोचते, राधिका के हृदय पर क्या बीतती होगी? ब्रजयुवतियाँ किस दाह में जल रही होंगी। ऐसे ही समय उद्धव महाराज आ पहुँचे। उनसे ब्रज मे संदेशा पहुँचाने के लिए चर्चा चलाई। मित्र को मानना ही पडा। उनसे कहते-कहते ही गोकुल का स्मरण फिर हो आया। धोरी-धूमरी गायों की याद आ गई। उद्धव ज्ञान ही के चक्कर में फँसे थे। कृष्ण इसी दलदल में से निकालने के लिए समाचार भेजते है। इस वर्णन में कितनी स्वाभाविकता है? कितनी तल्लीनता, कितना प्रेम, कितना चोज़, कितना सूर का अवलोकन और अनुभूति है। सूर के वे बाल कृष्ण अब राजसिंहासन पर से भी वही बाल-हृदय, बाल-मनोभाव रखते हैं और कहते हैं—

> "आवैंगे दिन चारि-पाँच मे हम हलधर दोउ भैया।
> जा दिन ते हम तुम ते बिछुरे काहु न कह्यो कन्हैया॥
> कबहूँ प्रात न कियो कलेवा साँझ न पीन्ही छैया।
> बंशी वेनु संभारि राखियो और अबेर सबेरो।

मति ले जाय चुराय राधिका कछुक खिलौना मेरो।
कहियो जाय नन्द बाबा सों निपट निठुर जिय कीन्हों॥
सूर श्याम पहुँचाय "मधुपुरी" बहुरि संदेश न लीन्हों।"

उद्धव महाराज अपनी निर्गुण-ज्ञान की गठरी सिर पर धारण-कर चले और गोकुल पहुँचे। विरह-विधुरा ब्रजबालाओं ने महाराज को दूर से ही देख लिया। एक क्षण तो श्याम की श्यामता का आभास हुआ, पर वे सुखाभास के निर्जल मेघ बिजली की चमक ही में विलीन हो गये और इस जलद पटल की ओर से उसी रंग-रूपवाले वैसी उनहारवाले, वैसी ही बोलनिवाले उपंग सुत दिखाई दिये। बस लता पर पाला पट गया। गोपियाँ उद्धवजी को आते हुए देख बात-चीत करती हैं—

"कोउ आवत है घनश्याम।
वैसेइ पट वैसिय रथ बैठनि, वैसिय है उर दाम॥
जैसी हुति उठि तैसिय दौरी छाड़ि सकल गृह-काम।
रोम पुलक, गद्-गद भई तिहि छन सोचि अंग अभिराम।
इतनी कहन आय गये ऊधो रही ठगी तिहि ठाम।
सूरदास प्रभु ह्यां क्यों आवैं बँधे कुब्जा रस श्याम।"

अंतिम पंक्ति मे स्त्री-हृदय की कितनी मंजुल व्यञ्जना, कितना तीखा व्यंग, कितनी मार्मिकता एवं हृदय की जलन छिपी हुई है।

इतने में वे सब युवतियाँ क्या देखती हैं कि श्रीकृष्ण-सखा ने, जैसा उन्हें पीछे ज्ञात हुआ, नन्द के द्वार पर जाकर रथ ठहरा दिया। यहीं ग्राम्य जीवन का चित्र खिंच जाता है। सब ब्रजवधुएँ गृह-कार्य छोड़कर आ पहुँची। गोकुल में ये अतिथि तो थे ही, कोई इनका

स्वागत करने लगी, कोई आरती उतारने लगी इत्यादि भिन्न-भिन्न क्रियाएँ करने लगी। यह सब हो ही रहा था कि इन्होंने आव देखी न ताव और लगे अपनी निर्गुण की गठरी खोलने और भगवान के सगुण रूप का रस चाखनेवाली भोली-भाली गोपियों को ज्ञान का उपदेश झाड़ने। वह परमात्मा तो निर्गुण है, निराकार है, उनके आँख, कान, नाक कुछ भी नहीं है। वह अनादि, अखण्ड, अलख है। वही सर्व-शक्तिमान है, हृदय के ज्ञान द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। अतएव तुम कृष्ण का, ब्रजबालाओं के प्यारे कुँवर कन्हैया का ध्यान छोड़ दो। पर आप सोच सकते है जो साक्षात् कुँवर कन्हैया को इहलौकिक लोचनों से निहार चुकी थी, जिनकी पुतलियों को अपने हृदय में बैठा चुकी थी, भला उसे वे कैसे निकाल सकती थीं? हाथ का रत्न त्याग किस काँच की आश उन्हें दिलाई जा सकती थी। अतएव मधुर शब्दों मे झट प्रत्युत्तर भी दे दिया—

"गोकुल सबै गोपाल उपासी।
जोग अंग साधन जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी॥
यद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहती चरननि रसरासी
अपनी सीतलताहि न छाँडत यद्यपि है ससि राहु गरासी।
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम भजन तजि करत उदासी॥
सूरदास ऐसी को विरहिन माँगति मुक्ति तेजगुणरासी?"

खैर तर्क के लिए मान भी लिया जाय कि निर्गुण ब्रह्म का आराधन, योग-साधन उत्तम है, किन्तु हमारे मन मे वह एक भी नही बैठती। आज से हमारा प्रेम हो सो बात नही है। यौवन-समय की प्रीति में उन्माद रहता है, उस समय स्वार्थ-भावना का भी अंश किसी न किसी रूप मे सन्निहित रहता है, पर जो प्रीति लंगोटिया यारों में

होती है, वह श्मशान भूमि तक स्थायी रहती है। श्याम की प्रीति का अंकुर बाल्यावस्था मे ही उत्पन्न हो गया था, तभी तो गोपियाँ कहती है—

> "लरिकाई को प्रेम, कहो अलि कैसे करिकै छूटत।
> कहा कहौं ब्रजनाथ चरित अब अन्तर गतियाँ लूटत॥"

जो आँखे हरि-दर्शन की भूखी है, उन्हें शुष्क ज्ञान का उपदेश कैसे सुहा सकता है। इसी लिए बेचारी अबलाओं के खिन्न हृदय में ये बातें और भी घाव पर नमक छिड़कनेवाली हो जाती हैं। वे कहती हैं—

> "अँखियाँ हरि-दर्शन की भूखी।
> कैसे रहैं रूप रस राची ये बतियाँ सुनि रूखी॥
> अवधि गनत इकटक मग जोवत तब एती नहि झूखीं।
> अब इन जोग संदेश न ऊधो अति अकुलानी दूखी॥"

प्रेम भी एक धुन हैं राग है, तल्लीनता है और एक अलौकिकता है। इसका मधुर रस एक बार जिसने आचमन कर लिया, वह इसकी माधुरी पर इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे अन्य सब वस्तुएँ या रस फीके विदित होने लगते हैं। गोपियाँ भी इसी प्रेम-माधुरी का आस्वादन कर चुकी हैं। इसी रंग मे रँग चुकी हैं और इसे ही अपना जीवनाश्रय बना चुकी हैं। अतएव उद्धव का, समझाना, ज्ञान का रस पिलाना अच्छा नहीं लगता। इसी लिए जब उद्धव ज्ञान-कथा कहते ही चले जाते हैं, बिना इस बात पर विचार किये कि इसका प्रभाव गोपियों पर कैसा पड़ेगा, उन्हें यह विषय अरुचिकर होगा या नहीं, तब वे भी खीझकर कह उठती हैं—

"हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञान-कथा हो ऊधो मथुरा ही ले जाव॥
पालागौं, इन बातनि, रे अलि, उनहीं जाय रिझाव।
सुनि प्रिय सखा श्यामसुन्दर के जो पै जिय सत भाव॥"

पर ऊधो को यह ज्ञात नहीं कि अबला चञ्चल गोपियों ने भी अपने मन को सबल और अचञ्चल बना लिया था। वे भी आज केवल एक बात पर, भगवान के एक स्वरूप पर मोहित हो गई थी। उन्हे अब अन्य से कुछ प्रयोजन नही था। 'हमन है इश्क मस्ताना हमन को अन्य से क्या है।' उनके हरि तो हारिल की लकडी हो गये थे, जिनके सगुण रूप को इन्होंने इतनी दृढ़ता से अपने हृदय-रूपी मुख मे पकड लिया था कि वे छोड ही नही सकती थी। उन्हें एक ध्यान है, एक रंग है, एक बात है, एक धुन है। सोते-जागते, खाते-पीते, उसी मूर्ति ने उनके अन्तस्तल पर एकछत्र अधिकार प्राप्त कर लिया है। अतएव उद्धव का उपदेश चिकने घडे पर पानी हो जाता है और वे उत्तर देती है—

"हमारे हरि हारिल की लकड़ी।
मन-वच-क्रम नंद-नंदन सो उर यह दृढ करि पकरी॥
जागत सोवत सपने सौं 'सुख कान्ह-कान्ह जकरी।
सुनत ही जोग लगत ऐसो अति ज्यों करुई ककरी॥
सोई व्याधि हमे ले आये देखी सुनी न करी।
(अतएव) देखी यह तो सूर तिन्हें ले दीजै जिनके मन चकरी॥"

सब गोपियाँ विरह मे डूबी हुई है, पर जब वियोग-दुःख बढकर चरम सीमा पर पहुँच जाता है या कोई भी दुःख जब अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच जाता है, तब वह दुःख ही नहीं रहता है।

कभी-कभी तो न दुःख ही रहता है और न दुःखी ही रह जाता है। 'दर्द का हद से गुजर जाना है दवा हो जाना।' इसी दुःख से परे अवस्था में ब्रजवनिताओं को भी कभी-कभी सुखाभास की झलक दिख जाती है। उसी के शरीर में उन्हें विनोद सूझ जाता है, वे उद्धव को मूर्ख बना देती हैं और कुछ प्रश्न पूछने लगती हैं—

"निर्गुन कौन देश को वासी !
मधुकर हँसि समुझाय सौंह दे बूझति साँच न हाँसी।
को है जनक जननि को कहियत, कौन नारि को दासी।
कैसो बरन भेष है कैसो वहि रस मे अभिलासी॥"

इतना कहते-कहते ही उन्हें अपनी सुधि आ जाती है, वे प्रकृत बात पर आ जाती हैं और कह उठती हैं—

"पावैगो पुनि कियो आपनो जोरे कहैगो गाँसी।"

इस हृदयाग्नि का प्रभाव भी ऊधो पर खूब पड़ता है और उसकी दशा यह हो जाती है—"सुनत मौन है रह्यो ठग्यो सो सूर सबै मति नासी।"

उन्हें कुछ और विनोद सूझता है और वह इसका आनन्द स्वयं ही नहीं उठाना चाहतीं, अपनी अन्य सखियों को भी चखाना चाहती हैं—

"खायबे को स्वाद जो पै और को खवाइये।"

निकट खड़ी हुई अन्य सखियों से कोई एक कहती है। विनोद की मात्रा बढ़ाने के लिए कितना व्यंग है इस पद में। बहुधा स्त्रियाँ इसी प्रकार के व्यंगों से बातचीत किया करती हैं, कारण कि उनके मनो-

भावों को स्पष्ट करने में पुरुष ने उन्हे बेड़ियों मे जकड दिया है और वे भी संकोच करने लगी है। इसी लिए उन अबलाओं का बल 'निर्बल का बल राम' हो गया है। इसी व्यंग में वे कहती है—

"देन आये ऊधो मत नीको।
आवहु री सब सुनहु सयानी लेहु न जस को टीको।
तजन कहत अम्बर आभूसन गेह नेह सबही को॥
सीस जटा सब अंग भस्म अति सिखवावत निर्गुन फीको॥
मेरे जान यहै जुवतिन को देत फिरत दुख पी को।
तेहि सर पंजर भये श्याम तन अब न गहत डर जी को॥
जाकी प्रकृति परी प्रानन सो सोच न पोच भली को।
जैसे सूर ब्याल डंसि भाजत का मुख परित अमी को॥"

बेचारी अबलाएँ ठहरी। मातृत्व का कितना ही भार ये वहन करनेवाली हों, किन्तु पुरुषों के क्षणिक आवेशमय प्रेम के तीव्र स्रोत मे शीघ्र ही बह जाती हैं। पुरुषों की बातों में आकर अपने जीवन को दुःखमय ही नही, नष्ट कर देना उनके लिए साधारण बात है। पुरुष कठोर हो जाता है, किन्तु कोमल भावों की रचिका देवियाँ कठोर होना नहीं जानती। कृष्ण-सदृश निर्मोही से प्रीति करके ही आज उन्हें यह कहना पडा। कितनी मर्म-भेदिनी वाणी और अवस्था है उनकी—

"निर्मोहिया सो प्रीति कीन्ही काहे न दुःख होय।
कपट करि-करि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय॥
कालमुख ते काढि आनी बहुरि दीनी ढोय।
मेरे जिय की सोई जानै जाहि बीती होय॥
सोच आँखि मे जीठ कीन्ही निपट कांची पोय।
सूर-गोपी मधुर आगे दरकि दीन्हों रोय॥"

इस निर्मोही श्याम से इतनी शोचनीय अवस्था होने पर भी, बिना उसके उनकी विचित्र गति है। उन्हें उस श्यामघन के बिना संसार फीका लगता है। कितनी अनन्य भक्ति उनमें ओत-प्रोत भरी हुई है, इस निम्नलिखित पद से विदित होता है। कृष्ण के संयोग में जो लतिकाएँ शीतल लगती थीं, आज उन्हीं के वियोग में वे ज्वाल-मालाओं-सी भयंकर और दाहक है। अब उन्हें न यमुना-नीर अच्छा लगता है, न पक्षी का कलरव, न कमल-सौन्दर्य—

"बिन गोपाल बैरन भई कुंजें।
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विषय ज्वाल की पुंजें॥
वृथा वहति जमुना खग बोलत, वृथा कमल फलैं अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार संजीवनि दधि सुत किरन भानु भई भुंजैं॥
ए ऊधो कहियो माधव सों विरह कदन करि मारत लुंजै।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भई वरन ज्यों गुंजैं॥"

इस पर ऊधो ने बहुत समझाया कि देखो ऐसे निर्मोही की प्रीति छोड़ दो। पहिले तो उनके उपदेश का कुछ प्रभाव ही न पड़ा। पर उद्धव ने कहा—अच्छा तुम अपना हिताहित विचार कर उत्तर दो। भोली बालाओं ने सोचा कि क्षण भर सोचने में क्या हानि है। विचारा, अपने हृदय को टटोला। साहस करके देखा कि माखन-माधुरी का धृष्ट तस्कर हृदय-प्रदेश से बाहर निकलता है या नहीं; पर वह चोर भी साधारण चोर नहीं था। ज्यों-ज्यों वे उसे निकालने का प्रयत्न करना चाहतीं, वह श्यामसुन्दर उलझी हुई गुत्थियों के समान और उनके हृदय मे उलझता जाता। इन भोली बालिकाओं के लिए वह ऊखल से बाँधने-वाला वीर पर्याप्त था। वह भी वहाँ जाकर सीधा नहीं तिरछा होकर अड़ गया था। सीधी वस्तु झट से निकल आ सकती है, पर तिरछी नहीं। अतएव जब इन्होंने हृदय को टटोला, तो देखा और बोलीं—

"उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नहि ऊधो तिरछे है जु अड़े॥"

इतना कहने पर भी उद्धव न माने और हृदय को ही चूरकर उन्हे निकलवाने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने यह नहीं सोचा कि निर्गुण ब्रह्म तो है नहीं जो जैसे चाहे निकल जाय। यह तो सगुण ब्रह्म था, भौतिक शरीर के रूप मे। अन्त मे उन्हें खीझकर यह कह ही देना पड़ा—

"ऊधो तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै किन वै काज ररौ॥
जाय करो उपचार आपनो हम जो कहत हैं जी की।
कछु कहत कछु वै कहि डारत धुनि देखियत नहि नीकी॥
साधु होय तेहि उत्तर दीजै, तुम सों मानी हारि।
याही ते तुम्हे नंदनंदन जू यहाँ पठाए टारि॥"

इधर से इतना तीव्र व्यंग्य कर रही है। उधर उनके निर्गुण ज्ञान की हठाग्रहिता पर हँसी भी आ जाती है। यह है भी स्वाभाविक। कभी-कभी जब हम दुःख मे डूबे बैठे हों और कोई असमझ की बात विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए कह दें, उस समय हँसी रोकना दुष्कर है। इससे भी यही ज्ञात होता है कि सूर का अधिकार ऐसे-ऐसे सूक्ष्म स्थलो पर भी उतना ही है, जितना अन्यों पर। गोपियाँ उद्धवजी से कहती है—

"ऊधो भली करी तुम आये।
ये बातें कहि-कहि या दुःख मे ब्रज के लोग हँसाये॥"

पुत्र कुपुत्र हो जाय, पर माता कुमाता नहीं होती। पुत्र कैसा

ही कुरूप या बुरा भी क्यों न हो, माता के लिए वह प्रत्येक दशा में प्यारा और सुन्दर दिखाई देता है। माता की ममता तो गृहस्थ-जीवन में प्रत्येक समय देखी ही जाती है; किन्तु इसका चरम विकास उस समय होता है जब उसका लाडला, हृदय का टुकड़ा, उसका जीवन-धन, नेत्रों की ज्योति उससे विलग होकर अलग जा पड़ता है। इस समय वह उसके कल्पना-राज्य का, उसके हृदय की निधि का एकमात्र अधिकारी हो जाता है। माता को बार-बार यही ध्यान रहता है कि बाहर मेरे पुत्र को कितना कष्ट झेलना पड़ रहा होगा, वह क्या खाता-पीता होगा। भ्रमरगीतों में सूर का भी यह कितना मनोहर और हृदय-वेदना से परिपूर्ण मार्मिक स्थल है। यशोदा उद्धव के द्वारा देवकी को संदेशा भेजती है—

> "संदेशो देवकी सों कहियो।
> हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
> उबटन तेल और तातो जल देखत ही भग जाते।
> जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती करम-करम करि न्हाते॥
> तुम तौ टेव जानतहि ह्वैहौ तऊ मोहि कहि आवै।
> प्रात उठत मेरे लाड़ लड़ैतेहि माखन रोटी भावै॥
> अब यह सूर मोहिं निसिवासर बड़ो रहत जिय सोच।
> अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वै हैं करत संकोच॥"

यह दशा माता की उस समय है, जब कृष्ण उनके उदर से उत्पन्न हुए पुत्र नहीं हैं और मथुरा में राजसिंहासनासीन हैं, जहाँ उन्हें किसी प्रकार के कष्ट होने की सम्भावना नहीं है; पर माता का हृदय होता ही ऐसा है। वह तो उसकी आँख से ओझल होते ही अपने पुत्र के कष्ट की कल्पना कर लेती है।

जिसके पास एक से अधिक वस्तुएँ है, वह उन्हे बाँट सकता है। मन तो विधाता ने प्रत्येक प्राणी को एक ही दिया है—अतएव गोपियों की यह उक्ति सर्वथा न्याय-संगत, उचित, ग्राह्य और तर्क-पूर्ण है—

"ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो हरि के संग को अराध तुव ईस ॥"

एक मन की तो यह अवस्था थी, बेचारी अबलाओं को छोड-कर ही चला गया। वह चला गया तो चला गया, पर इन आँखों का बडा विश्वास था, सो इन्होंने भी धोखा दिया। अब इन पर क्यों विश्वास न रहा—

"बिछुरत श्री ब्रजराज आज सखि नैनन की परतीति गई।
उडि न मिलै हरि संग विहंगम ह्वै न गये घनश्याम मई ॥"

वियोग की चरमावस्था मे यह जगंम जीव जडवत् हो जाता है। उसे कुछ ज्ञान नहीं रहता है। वह विह्वल और अलापी हो जाता है और जड-जंगम पदार्थों मे, मूक-अमूक प्राणियों मे भी कुछ भेद नहीं रखता। तुलसी ने भी सीताहरण के पश्चात् राम की विह्वलावस्था मे अचल पदार्थों एवं मूक प्राणियों से उनका संबोधन करवाया है। कालिदास ने भी मेघ द्वारा यक्ष का संदेश पहुँचाना दर्शाया है। सूर के भी निम्नलिखित दो पद ब्रजवनिताओं की वियोग-जन्य विह्वलता एवं मिलन-व्यग्रता को भली भाँति प्रदर्शित करते हैं, यह वियोग की अंतिम अवस्था है। वे कोकिल से कहती हैं—

"कोकिल हरि को बोल सुनाव।
मधुवन ते उपटारि श्याम सों कहँ या ब्रज लै कै आव।

दूसरा पद पपीहे के प्रति है—

"कराव रे, सारंग ! स्यामहि सुरत कराव।
पौंढ़े होहि जहाँ नंदनंदन ऊँची टेर सुनाव॥
गयो ग्रीषम् पावस ऋतु आई, सब काहू चित चाव।
उन बिनु ब्रजवासी यों सोहत ज्यों करिया बिनु नाव॥
तेरो कह्यो मानि हैं, मोहन पाय लागि ले आव।
अबकी बेर सूर के प्रभु को नैननि आनि दिखाव॥"

विरह की इस विषय-वह्नि में, ब्रज की कोमलहृदया बालाएँ जल रही हैं, पर उन्हें अपनी जलन की चिंता नहीं है। उनके हृदय में स्वधन सहसा खो देनेवाले प्राणी के समान, बार-बार यही बात खटकती है। सूर की यह खटकन कितनी हृदय-स्पर्शी और मानव-स्वभाव को दिखानेवाली है—

"स्याम को यहै परेखो आवै।
कत वह प्रीत चरन जावक कृत अब कुब्जा मन भावै॥
तब कत पानि धर्यो गोवर्द्धन, कत ब्रजपतिहि छुड़ावै।
कत वह बेनु अधर मोहन धरि, लै-लै नाम बुलावै ?
तब कत लाड़-लड़ाय लड़ैते, हँसि हँसि कंठ लगावै ?
अब वह रूप अनूप कृपा करि नयनन हू न दिखावै।
जा मुख संग समीप रैनि दिन सोई अब जोग सिखावै।
जिन मुख देय अमृत रसना भी सो कैसे विष प्यावै।
कर मींड़ति पछताति हियो भरि क्रम क्रम मन समझावै।
सूरदास यहि भाँति वियोगिनि तातें अति दुख पावै॥"

यह पद दार्शनिकता से ओत-प्रोत है। इससे यह ज्ञात होता

है कि सूर सगुणोपासक होते हुए भी निर्गुण स्वरूप के विरोधी नहीं थे। जब तक मनुष्य स्वय अपने हृदय ही मे भगवान को न खोजे, तब तक वह नही मिल सकता। बाह्य-रूप से कितना ही उसे खोजने का प्रयत्न करो वह नहीं मिलेगा। किन्तु जब अपने अन्तर ही मे वह अपने आप मिल जाता है, तब अनन्त आनन्द का स्रोत खुल जाता है। उच्च कोटि के साधु-महात्मा ही इस अवस्था पर पहुँचकर इस आनन्दानुभव को प्राप्त कर सकते हैं। संभव है कबीर के अनुकरण पर यह लिखा गया हो—

सूर की दार्शनिकता

"अपुनपो आपुन ही मे पायो।
शब्दहि शब्द भयो उजियारो सतगुरु भेद बतायो॥
ज्यों कुरंग नाभी कस्तूरी ढूँढ़त फिरत भूलायो।
फिर चेतो जब चेतन है करि आपुन ही तन छायो॥
राजकुँअार कंठ मणि भूषण भ्रम भयो कहूँ गँवायो।
दियो बताई और सतजन तब मनु को पाप नशायो॥
सपने माँही नारि को भ्रम भयो बालक कहूँ हिरायो।
जागि लख्यो ज्यों को त्यों ही है नाकहुँ गयो न आयो॥
सूरदास समुझै की यह गति मन ही मन मुसकायो।
कहि न जाहि या सुख की महिमा ज्यों गुँगो गुर खायो॥"

रामचन्द्रजी का संसार का भार उतारने के लिए जन्म हो चुका है। समस्त अयोध्या ही में नही, वसुधा भर मे, यहाँ तक कि त्रिभुवन मे भी आनन्द ही आनन्द छा गया है। सब लोग जहाँ-तहाँ फूले-फूले फिर रहे हैं। किसी को किसी बात की सुध नही है। महाराज दशरथ भी याचकों को मनमाना द्रव्य लुटा रहे है। जिसने जो माँगा वह पाया है—

सूर द्वारा श्रीराम का चित्रण

"आज दशरथ के आँगन भीर।
आये भुव भार उतारन कारन प्रगटे श्याम शरीर॥
फूले फिरत अयोध्यावासी गनत न त्यागत चीर।
परिरम्भण हँस देत परस्पर आनन्द नैनन नीर॥"

अयोध्या मे इस प्रकार से आनन्द मनाया ही जा रहा था कि धीरे-धीरे रामचन्द्र बड़े हो गये। अब उन्हे क्षत्रिय-बालक होने के कारण छोटी-छोटी तीर, कमाने दे दी गई हैं। सुन्दर लाल पाँवों में पद-त्राण पहिन यहाँ-वहाँ खेलते फिरते है। यह दृश्य किसे मोहित न कर लेगा—

"करतल शोभित बान धनुहियाँ।
खेलत फिरत कनकमय आँगन पहिरे लाल पनहियाँ॥
दशरथ कौशल्या के आगे लसत सुमन की छहियाँ।
मानो चार हंस सरवर ते बैठे आई सदहियाँ॥

अब रामचन्द्र और बड़े हो गये हैं। विश्वामित्रजी उन्हें दशरथ से ताड़कादि के वध-निमित्त माँग लाये हैं। उनका वध हो गया है। राम मिथिला पहुंच गये हैं। धनुष-यज्ञ की तैयारी हो रही है। सभा भरी है। सीताजी ने जब से रामचन्द्र को देखा है, तब से उनकी यही इच्छा है कि वे ही धनुष तोड़ सकें; किन्तु उनकी सुकुमारता एवं धनुष की कठोरता के कारण उन्हें हृदय में भय है। ईश से प्रार्थना करती हैं।

आसानी से राम धनुष तोड़ डालते हैं। विवाह हो रहा है। कई रीति-दस्तूर तो हो चुके हैं अब कंगन खोलने का दृश्य उपस्थित है। इस समय अब भी स्त्रियां इकट्ठी होकर बड़ा हास्य-विनोद किया करती हैं। क्योंकि यही प्रथम ऐसा अवसर मिलता है, जब कि वधु-गृह की

स्त्रियों को वर देखने का पूरा सौभाग्य मिलता है। सूर की यही तो विशेषता हृदय को मुग्ध कर लेती है। वे यह भली भाँति जानते हैं कि सर्वोत्कृष्ट वर्णनीय स्थान कौन-कौन है।

सात्विक स्वेद के कारण—

"कर कंपै कंगन नहि छूटै।
राम सुपरस मगन भय कौतुक निरखि सखी सुख लूटै॥
गावत नारि गारि सब दै-दै तात भ्रात की कौन चलावै।
तब कर डौर छुटै रघुपति जू कौशल्या माइ बुलावै॥
पूंगी फल युत जल निर्मल धरि आनी भरि कुंडी जू कनक की।
खेलत जूप युवक युवतिन मे हारे रघुपति जीति जनक की॥"

किन्तु सूर द्वारा श्रीराम के चित्रण के सम्बन्ध मे इतना अवश्य दिखाई देता है कि श्रीकृष्ण और राम मे कुछ अन्तर न मानते हुए भी उनकी आतरिक वृत्तियाँ श्रीकृष्ण-चित्रण ही की ओर अधिक झुकी हुई थीं। यही विशिष्ट व्यक्तियों का व्यक्तित्व दिखाई देता है। कवि सूर कवि तुलसी से ऐसे ही स्थलों पर वैषम्य रखता है। वैसे सिद्धांती सूर और तुलसी में, भक्त सूर और तुलसी मे कोई अन्तर नही है यदि सांप्रदायिकता के सिद्धांत पर विचार न किया जाय। और वास्तव मे सूर और तुलसी विभिन्न सम्प्रदायों मे रहते हुए भी उनकी साधारण काव्योचित बातों से प्रभावित नही हुए है। वे सदा सांप्रदायिकता से, उसमें रहते हुए भी, ऊँचे उठे है। यही उनकी विशेषताएँ है।

सुन्दर वस्तुओं मे सुन्दरता देखना तो एक साधारण बात है। अल्पज्ञ और साधारण व्यक्ति भी उसे देख सकते है, किन्तु असुन्दर

में सुन्दरता ढूँढना एक महाकवि की पैनी दृष्टिवाले सहृदय ही की विशेषता हो सकती है।

सूर का श्यामता-वर्णन

वैसे भी साधारण जनसमुदाय कालेपन की असुन्दर वस्तुओं में गणना करता है। पर भारतीय साहित्य की यह विशेषता रही है कि उसने असुन्दर में भी सुन्दर को देखा है, जैसा कि आजकल के कपाट-पाश्चात्य-कला-मर्मज्ञ भी देखने का प्रयत्न कर रहे हैं। गौरवर्ण आर्यों ने भी उच्च भावना तथा पैनी दृष्टि के कारण ही सम्भवतः द्रविड़ सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित होकर भारतीय सभ्यता के प्राणों को भी यही श्यामता प्रदान की है। राम और कृष्ण के श्यामल वर्णन में भी यही भाव अन्तर्निहित है। बड़े गौरव के साथ हमारे साहित्यकारों ने इसे अपनाया है। हमारे साहित्य का निन्यानवे प्रतिशत से अधिक भाग राम और कृष्ण की भक्ति पर अवलम्बित है और उनका वर्ण भी श्याम ही माना गया है।

आज से लगभग १०० वर्ष पहिले आंग्ल-सभ्यता के प्रादुर्भाव अथवा श्वेताश्वेत के भाव ने 'दीनदयालु' सदृश साधु एवं वैरागी के हृदय में भी शायद एक ठेस पहुँचाई थी। सम्भव है इसी कालेपन की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए उन्हें इसे अपनाना पड़ा हो। श्यामता के आधार घनश्याम तो मौजूद थे ही, उसी पर अवलम्बित हो, अपनी भक्ति की सरिता में परिप्लावित उस ठेस को वे यह रूप दे सके।—

"कारो जमुना जल सदा, चाहत हौं घनश्याम।
विहरत पुंज तमाल के, कारे कुंजन ठाम॥
कारे कुंजन ठाम, कामरी कारी धारे।
मोरपखा सिर धरे, करे कच कुंचित कारे॥
बरनै 'दीन दयाल', रँग्यो रंग विषम विकारो।
स्याम रागिनी संग याँ मन मेरो कारो॥"

'कारे' ताल-तमाल और कालिदी पर तो कितना ही साहित्य लिखा जा चुका है। इसी 'श्यामल गौर शरीर' पर तो गोस्वामीजी की ग्राम-वधुएँ भी न्यौछावर थी। उनके चले जाने पर भी बार-बार उनके मन मे यही इच्छा होती थी कि—'चलु देखिये जाइ जहाँ सजनी! रजनी रहिहैं. .।'

यह तो कल ही की बात है कि जब दादाभाई नौरोजी सदृश महान भारतीय का इंग्लैण्ड मे काले कहकर सम्मान किया गया था। महात्मा गांधी सदृश महान् आत्मा, विश्व की विभूति, The greatest man after christ का दक्षिण अफ्रिका मे अपमान किया गया था। दादाभाई के इसी अपमान से मर्माहत हो श्रीयुत 'प्रेमघन' को निम्नलिखित उद्गार प्रकट कर इसी श्यामता का गौरव ऊँचा उठाना पडा था। उनके उद्गार थे—

'कारो निपट न कारो, नाम लगत भारतियन।
यदपि न कारे तऊ भागि कारो विचारि मन॥
अचरज होत तुमहुँ सन गोरे बाजत कारे।
तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर है वारे॥
अरु बहुधा कारन के है आधारहि कारे।
विष्णु-कृष्ण कारे, कारे सेसहु जग धारे॥
कारे काम राम जलधर जल बरसन वारे।
कारे लागत ताहि सन कारन को प्यारे। . "

इससे स्पष्ट कथन और क्या हो सकता है? पर सूर ने भी इस भारतीय गौरव का व्यङ्ग रूप मे प्रत्यक्षीकरण किया है। सूर की यही विशेषता भी है कि उन्होंने कोई वर्णनीय स्थल नही छोडा है। अन्य कवियों ने भी श्यामता पर लिखा है पर सूर की शैली उनकी अपनी है।

उन्होंने अपनी तूलिका इस प्रकार के चित्रों के रंगने में चलाई तो है, पर वे इस 'कालेपन' में दूसरे रूप से सुन्दरता देखते हैं, वैसे तो सूर कृष्ण के भक्त हैं ही, पर जब वे गोपियों के द्वारा कृष्ण के प्रति उद्गार प्रकट करवाते हैं तब विदित होता है कि सूर का अपने कृष्ण पर—सखा कृष्ण पर कितना प्रगाढ़ अधिकार है। बिना अलौकिक अनन्य भक्ति के इतना मर्मस्पर्शी व्यङ्ग सूर के अतिरिक्त और कौन कह सकता है।

सूर केवल 'कारे' पर ही व्यङ्ग नहीं कसते, वे तो 'कारे की जाति' ही को अपने व्यङ्ग का निशाना बनाते हैं। और उसकी तुलना में प्रत्येक काली वस्तु के गुणों को सदोष सिद्ध करते हैं। ब्रजबालाओं और उद्धव के मिस वे कहते हैं—

"मधुकर, कह कारे की जाति ?
ज्यों जल मीन कमल पै अलि की,
स्यों नहिं इनकी प्रीति।
कोकिल कुटिल वायस छलि,
फिर नहिं वहि जाति।
तैसेहि कान्ह केलि रस अँचयो
बैठि एक ही पाँति॥
.... ।"

इसी 'कारे की जाति' के अन्य प्राणियों की करतूतें भी देखने योग्य है। भौंरा भी तो उसी कृष्ण की जाति का है। वह भी यदि छलिया और धोखेबाज़ है तो कृष्ण क्यों न होंगे ? जातिगत स्वभाव दूर कैसे हो सकता है ? भुजंग भी काला है। वह भी अपना जातिगत स्वभाव नहीं छोड़ता। भौंरा छलिया है तो भुजङ्ग 'डसिया'। षट्पद पर सूर की कल्पना विचित्र है। वह रात्रि को उसके कमल में बन्द होने

का कारण रति मानते और प्रातःकाल भाग जाने का कारण उसकी विभिन्न रसों में रुचि। इसी लिए तो ब्रज की ग्राम्यबालाओं को विरहाग्नि मे तपने के लिये छोड़ 'कारे की जाति'वाले 'श्याम' मथुरा चले गये थे और उनकी स्मृतियाँ मृदुल और सुखकर होते हुए भी बार-बार भुजंग बनकर डस जाती थीं। यदि कृष्ण काले न होते तो शायद उनकी स्मृतियाँ मृदुल और सुखकर ही बनी रहती। पर जातिगत स्वभाव कैसे विलग किया जा सकता था? इसी लिए तो इन्ही 'कारों की रीति' या करतूति पर सूर चुटकी लेते है—

"मधुकर! यह कारे की रीति।
मन दे हरत परायो सर्वस,
करै कपट की प्रीति।
ज्यौं षट्पद अंबुज के दल में,
बसत निसा रति मानि।
दिनकर उये अनत उड़ि बैठे,
फिर न करत पहिचानि।
भवन भुजग पिटारे पाल्यो,
ज्यों जननी जनि तात।
कुल करतूत जाति नहि कबहुँ,
सहज सो डसि भजि जात॥"

और फिर तन ही तो काला नही है, मन भी तो काला है। मन ही यदि श्वेत सुन्दर, कपट-रहित होता तो भी 'काले' की कुछ परतीति होती। पर वह तो उस 'कुम्भ' के सदृश है, जो 'विष-पूरन' है पर प्रगट मे 'पयमुख' है। इसी लिए सूर साफ शब्दों में कह देते हैं कि उसके 'मनोहर-वेप' पर व्रज की भोली-भाली गोपियाँ लुभानेवाली नही है। सूर के शब्दों में सुनिये—

"मधुकर ये सुनु तन मन कारे।
कहूं न संत सिद्धताई,
तन परसे है अंग कारे।
कीन्हों कुम्भ कपट विष पूरन,
पय-मुख प्रकट उघारे।
बाहिर वेष मनोहर दरसत,
अन्तरगत जु ठगारे॥"

पर 'काले' की इस करतूति का कारण क्या है? केवल जाति-गत स्वभाव! नहीं वह भी शायद क्षेत्र-परिवर्तन से बदल जाय, पर जब 'क्षेत्र' ही 'काली' करतूतवाला है, तब क्या किया जाय? फिर तो उस पर गहरा रङ्ग चढ़ना ही चाहिये। विरह-विधुरा बालाएं उद्धव महाराज से कह देती हैं कि 'हम मान लेती हैं कि शायद तुम हृदय में काले न होओ क्योंकि तुम हमें ज्ञानोपदेश दे रहे हो। शायद सद्भावना से प्रेरित होकर ही ऐसा कर रहे होओ; पर तुम्हारा विश्वास इसलिए नहीं किया जा सकता कि तुम 'स्याम सखा' भी तो हो और रहते भी तो उसी 'काली कालिंदी' पर हो। सूर की भी अनोखी सूझ है। योग अच्छा मिलाया है। 'कालिंदी-तट पर' बसने की कल्पना सूर की अपनी ही है। सुन्दर है।

इसी लिए वे उद्धव से कहते हैं कि 'कारे की जाति'वाले केवल अपने सुख के सगे होते हैं और उसी समय तक साथ देते हैं। वे कहते हैं—

"मधुप! तुम देखियत हो कारे।
कालिन्दी तट पर निवसत हो,
सुनियत स्याम-सखा रे।

मधुकर, चिहुर, भुजङ्ग, कोकिला,
अवधि नही दिन टारे।
वे अपने सुख ही के राजा,
तजियत यह अनुहारे॥"

अच्छा माना, कालिदी तट पर निवास करने से ही उसके निवासियों की यह दशा हुई। पर कालिदी 'काली' क्यों हुई? प्रश्न यह है। कालिदी के काले होने का कारण भी सूर क्या ही मार्मिक देते हैं। जिसका हृदय जिन वृत्तियों से रँगा होता है संसार भी उसे उसी रूप मे नजर आता है। एक सुखी को दुनिया सुखी और दुःखी को दुःखी ही दिखाई देती है। एक वियोगी भी 'जड-जंगम' मे कुछ भेद न कर उसे वियोगमय ही जानता है। 'विरह-विधुरा' ब्रज ललनाएँ भी कालिदी के काले होने का यही कारण बताती हैं। कालिदी भी स्त्री है, इसलिए ब्रजांगनाएँ उसकी मार्मिक व्यथा को यदि समझ सकें तो स्वाभाविक ही है। इसमे सूर ने स्त्री भावना के प्रेम का उत्कृष्ट रूप चित्रित कर दिया। परोक्ष रूप से वे भोली वधुएँ इन सब बातों का अपराध जैसे अपने ऊपर ही ले रही है, तभी तो उन्हे कालिन्दी के काले होने का यही कारण प्रतिभासित हो रहा है। वे कहती है—

"देखियत कालिदी अति कारी।
कहियो पथिक! जाय हरि सों ज्यों,
भई विरह जुर जारी।
मनो पलिका पै परी धरनि धँसी,
तरँग तलफ तनु भारी।
तट बारू उपचार चूर मनो,
स्वेद प्रवाह पनारी।

विगलित कच कुम्भ कास पुलिन मनो,

पंकज कज्जल सारी।

भ्रमर मनोमति भ्रमत चहूं दिसि,

फिरति है अंग दुखारी।

निसि दिन चकई-ब्याज बकत मुख,

किन मानहु अनुहारी।

सूरदास प्रभु जो जमुना गति,

सो गति भई हमारी॥"

उत्प्रेक्षा और रूपक से पुष्ट 'जमुना-गति' के रूप में वियोग-जन्य-रूप-गत भाव की कितनी मंजुल व्यन्जना सूर कर सके हैं, यह अवर्णनीय है।

भक्ति तथा भक्त-महाकवि—सूर

ज्ञान का संबंध मस्तिष्क से है एवं भक्ति का हृदय से। मस्तिष्क विचार, विवेक, मनन एवं तर्क का निवास-स्थान है तथा हृदय सहृदयता, भावुकता, पर-दुःख कातरता आदि कोमल वृत्तियों का। ज्ञान इहलौकिक है, प्राप्य पदार्थ है। भक्ति पारलौकिक है, भगवत्-कृपा से ही प्राप्य है। ज्ञान में ओज और तेज है। कदाचित् इसी लिए वह पुल्लिंग है। भक्ति में शांति है, तन्मयता है, परमात्मा में एकीकरण की भावना एव अनन्यता है। इसी लिए कदाचित् भक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। उसमें पुरुषत्व का विकास है तो इसमें स्त्रीत्व की कोमलता। ज्ञान विजय चाहता है, भक्ति पराजय। ज्ञान समस्त ब्रह्मांड को वश में करना चाहता है, भक्ति अपने अणु-अणु को उसमें व्याप्त देखना चाहती है। ज्ञान परिश्रम-साध्य है, किंतु भक्ति के लिए हृदय चाहिये, भगवत्-कृपा चाहिये।

ज्ञान से आप मस्तिष्क पर प्रभाव डाल सकते हैं, पर भक्ति

से हृदय पर। ज्ञान का प्रभाव कठिनता से स्थायित्व प्राप्त कर सकता है, किंतु भक्ति का सरलता से। ज्ञान मे अभिमान के लिए पर्याप्त स्थान है, किंतु भक्ति अभिमान को—अहंकार को दूर से ही प्रणाम करती है। ज्ञान भक्ति के बिना निरर्थक है, किंतु भक्ति के लिए ज्ञान का होना अनिवार्य नही। ज्ञान एक प्रबल नद है, जो अपने पूर मे तटस्थ ग्राम, वृक्षादि को बहा लेता है, किंतु भक्ति एक निर्मल निर्झरिणी है, जो लोकापवाद की विकट चट्टानों को पार कर भी अपने प्रियतम से मिलने के लिए एकरस बहती चली जाती है और यदि नही मिल पाई तो शुष्क होकर—अपनापन ही, अहंकार ही—खोकर दूसरे रूप से अपने प्रियतम से मिल ही जाती है।

भक्ति ही ईश्वर-प्राप्ति, जो मानव-जीवन का अंतिम लक्ष्य है, का सुलभ साधन है। बिना भक्ति के भगवान् का दर्शन होना दुर्लभ है। भक्ति ही से हृदय मे भगवान् के दर्शन होते और एक अलौकिक अनिर्वचनीय आनंद की प्राप्ति होती है। भक्ति मे आत्मा अपने 'अहं' को भुला देती है और तभी परमात्मा का प्रकाश उसमे स्थान कर लेता है, जैसे कि रिक्त स्थान में वायु स्वयं ही प्रवेश कर जाती है। भगवान् कृष्ण गीता मे एक स्थान पर इसी लिए कहते है, जो मुझ पर आसक्त हैं और प्रेम-सहित मेरी उपासना करते हैं, उनकी बुद्धि को मैं इस प्रकार चलाता हूँ कि वे मुझे पा सके। भक्ति मे आत्मानुभव की आवश्यकता है। मनुष्य के लिए नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—का कथन किया गया है। इनमे यद्यपि पाखंड को प्रश्रय बहुधा मिल जाया करता है, किंतु ध्यान-पूर्वक विचारने पर ये भक्ति की चरमावस्था पर पहुँचाने के लिए नौ सोपान प्रतीत होते है, जिन पर चढ़कर ही भक्त सच्ची भक्ति, पराभक्ति तक पहुँच सकता है। बिना भगवान् के गुणों को सुने मस्तिष्क

में भाव उठ ही नहीं सकते, हृदय मथा ही नहीं जा सकता। बिना उसका गायन किये हम उसकी ओर झुक ही नहीं सकते, हममें तन्मयता आ ही नहीं सकती। भगवान् का जब तक हम हृदय से बार-बार मनन न करें, उसका स्मरण न करें, तब तक हममें उस निष्कलंक के प्रति स्थायी अनुराग होना कठिन है। अनुराग प्रकट होने पर जिस प्रकार हो सके, उस प्रकार उसकी सेवा, अर्चना, वंदना चाहे दास्य-भाव से हो, चाहे सख्य-भाव से अथवा आत्म-निवेदन के रूप में, किंतु कपट त्यागकर, निरीह और संसार से अनासक्त हो उस परम आत्मा की खोज में लगना ही सच्ची भक्ति है।

यह तो स्वाभाविक ही है कि जब हम किसी से प्रेम करने लगते हैं, उसे अपने हृदयासन पर अधिष्ठित कर देते हैं, तब उसकी सब वस्तुएँ हमें प्यारी लगने लगती हैं। उसका छोटे से छोटा स्मरण-चिह्न भी हमें आह्लाद कारक प्रतीत होता है। इसी प्रकार परमात्मा से भी प्रेम होने पर उसकी समस्त रचना से हमारा प्रेम हो जाता है। हमारा हृदय घृणा से रहित हो सम-भावी बन जाता है। भक्ति बिना विषय-वासनाओं को छोड़े प्राप्त नहीं हो सकती; अपने भुलाये बिना उसमें तन्मयता नहीं आ सकती। इसी लिए भक्ति-पथ त्यागमय है। त्याग ही भक्ति एवं धर्म का मूल है और इसी में प्राणियों का, मानव का हित, सुख सन्निहित है। इस भक्ति को प्राप्त करने के साधन भी रामानुजाचार्यजी ने विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष बताये हैं। सदसद् के विचार को विवेक कहते हैं। रामानुजाचार्यजी तो खाद्याखाद्य के विचार को ही विवेक मानते हैं। विमोक का अर्थ है इन्द्रियजन्य क्षणिक आनंद को तिलांजलि दे संयम एवं सरलता-पूर्वक जीवन व्यतीत करना। विमोक की प्राप्ति शनैः-शनैः सत्य, दया, दान आदि के नियम लेने एवं अभ्यास द्वारा ही हो सकती

है। लगातार परिश्रम करते जाने को अभ्यास कहते है। क्रिया से उनका तात्पर्य कदाचित् कर्त्तव्य से है या मनुष्य की दैनिक धार्मिक क्रियाओं से। कल्याण का अर्थ भलाई या परोपकार एवं पवित्रता से भी है। अतएव भक्ति भी परोपकार वृत्ति को लिये हुए है। अनवसाद का अर्थ शक्ति-बल से है। विना शक्ति या बल के कोई कार्य नही चल सकता। किंतु शक्ति शारीरिक एवं मानसिक दोनो प्रकार की होनी चाहिये। बलहीन मनुष्य का जीवन व्यर्थ है (Weekness is sin, disease is death)। वास्तव मे निर्बलता एक पाप ही नही, महाभिशाप है। निर्बल हाथों से भक्ति कर सकना संभव नही। जैसा कहा भी है, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"। इस प्रकार नवधा भक्ति के उक्त भेदों का जब हम विश्लेषण करते हैं, तब हमे उनमे क्रमिक विकास ही नही मिलता, वरन् उनमें उच्च कोटि की वैज्ञानिकता एवं आध्यात्मिकता दिखाई देती है। शास्त्रों में भक्ति-प्राप्ति के अन्य अनेक साधन एवं मार्ग बताये गये है, किंतु इन साधनों एवं मार्गों की अपेक्षा उपयुक्त हृदय की, सहृदयता की अधिक आवश्यकता है। भक्ति के लिए लगन की, एकाग्र चित्त की तथा एकरस अनन्य प्रेम की अधिक आवश्यकता है। ऐसी ही निर्मल भक्ति से प्रवाहित होनेवाला स्रोत विश्व-कल्याणकारी होता है। नानक, कबीर, तुलसी आदि ऐसे ही भक्त थे, अभ्यासी थे, और इसी लिए वे संसार का उपकार कर सके।

भक्ति-भाव अनेक प्रकार से प्रकट किया जा सकता है। कभी तो भक्त परब्रह्म को अपना गुरु समझ अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है, कभी स्वामी मानकर। कभी वह उसे सखा समझता है, कभी अपना मित्र। वास्तव मे परब्रह्म है भी आत्मा का गुरु, स्वामी, माता, पिता, मित्र और सब कुछ। वह क्या नहीं है? जिस भक्त के हृदय मे जिस प्रकार से हिलोर उठे और जैसा उसका दृष्टिकोण हो, उसी प्रकार वह परमात्मा

को देखता है। भक्ति किसी भी प्रकार से की जाय, परमात्मा से कोई भी एक संबंध स्थापित किया जाय, किन्तु सब प्रकारों के संबंधों के लिए अनन्यता ही अत्यंत आवश्यक है। जब भक्त परमात्मा को अपना पति समझता है और स्वयं को स्त्री, तब उसके हृदय से ऐसे ही प्रेम के भाव उद्भवित होते है, जिससे इस संबंध की ही पुष्टि हो। इस संबंध में वह परमात्मा का आंतरिक संयोग पा सुखी होता, उससे मान-मनौअल करता और कराता है। उसके न मिलने पर दुःखी होता है और विरहिणी नायिका के समान उसके वियोग में उसे यह संसार भारी हो जाता है। आत्मा में उसके दर्शन से पति-दर्शन के समान सुख होता है।

जब वह स्वामी-सेवक के भाव में अपने उद्गार प्रकट करता है, तब वह अपने स्वामी को सर्वोच्च और स्वयं को अति तुच्छ समझता है। इस संबंध में वह परमात्मा की जितनी सेवा कर सके, उतनी सेवा करने की आकांक्षा रखता है। परमात्मा में उसे गुण ही गुण और स्वयं में दोष ही दोष दिखाई देते हैं। उसकी आज्ञा-पालन करना ही उसका एकमात्र कर्तव्य होता है। उस समय वह स्वयं 'गुणी' और परमात्मा को 'गुणदायक' समझ अपने को उसी के हाथों में समर्पण कर देता है। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध के द्वारा वह गुरु ही में परमात्मा का आरोप कर उसकी पूजा-अर्चना करता है।

वात्सल्य-भाव-भक्ति में हम प्रेम का पूर्ण विकसित रूप देखते हैं एवं अन्य-भावों से हृदयोद्गारों की निर्मलता तथा निष्कपटता। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भंग हो सकता है। गुरु शिष्य को अवज्ञाकारी देख उससे घृणा करता है, उसे पृथक कर सकता है। उसमें बुद्धि का अभाव देख उसे ज्ञान-दान देने में संकोच कर सकता है। शिष्य भी गुरु को त्याग अन्य को अपना सकता है। यही बात स्वामी-सेवक में भी हो

सकती है। स्वामी सेवक को तिलांजलि दे सकता है और सेवक स्वामी को।

पति-पत्नी-भाव मे शृङ्गार-भाव पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और यह सम्बन्ध भी जीवन-पर्यंत निबाहा जा सकता है। इसमे निर्मलता एवं कोमलता भी प्रचुर मात्रा मे व्याप्त है, किन्तु यह भी वात्सल्य-भाव की समता करने मे असमर्थ है। सब कोई अन्य हो सकते है, किन्तु माता कुमाता नही हो सकती। इसी प्रकार यह सम्बन्ध भी अटूट रहता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार के सम्बन्धों में यह सम्बन्ध सर्वश्रेष्ठ ही नही, चिरकालीन भी है। पवित्र भावनाओं को समुचित रूप से व्यक्त करने की निर्मल धारा भी यही है। शिशु ही मे हम परमहंसत्व के समस्त गुणों का प्रादुर्भाव पाते है। उसमें ही परमात्मा के समस्त गुणों का आरोपण एवं निरूपण किया जा सकता है। शिशु, वत्स आदि मृदु शब्दों मे कितना सौकर्य, कितनी अनुभूति, कितनी भाव-व्यञ्जना भरी हुई है! बालक ही सृष्टिकर्ता की सर्वोत्तम अतुलनीय कृति है। अतएव सर्वोत्कृष्ट भाव-व्यञ्जना इसी वात्सल्य-भाव की भक्ति द्वारा संभव है।

अब यदि हम सख्य-भाव पर विचार करें, तो यह भी वात्सल्य-भाव का ही द्वितीय रूप है। एक मित्र अपने मित्र से अपने गूढ से गूढ हृदयोद्गारों को निरशंकित हो प्रकट कर सकता है। जिन भावों को वह माता, पिता, गुरु, स्वामी से छिपाता है या उसे छिपाना आवश्यक होता है, उन भावो को, उन उद्गारों को वह अपने मित्र के समक्ष मुक्त हृदय से रख देता है। मित्र-भाव की मंजुल व्यञ्जना भी बाल्यकाल में ही देखी जाती है और इस अल्हड, निष्कपट काल के अतिरिक्त इस भाव का केवल नाम-शेष व रूढि ही रह जाती है। अतएव सख्य-भाव ही वात्सल्य-भाव का सच्चा सखा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी नही हो सकता।

एक मित्र अपने मित्र के साथ खेलता, कूदता, लड़ता, झगड़ता, मिट्टी उछालता, मारता, पीटता, मिलता, जुलता और परस्पर सहायता करता है। इसी प्रकार अन्य समासम भाव मित्र में, सखा में, पाये जाते हैं। फिर भी इसकी निर्मलता में, पवित्रता में कोई बाधा नहीं आती। यही इसकी विशेषता एवं विचित्रता है। इसी सख्य-भाव का भक्त अपने इष्ट-देव के साथ भाव और भावनाओं में खेलता-कूदता, लड़ता-झगड़ता, डाँटता-डपटता तथा प्रेम और सहायता करता है। कहने का आशय यह है कि भावों की मंजुल व्यञ्जना केवल वात्सल्य एव सख्य-भावों के द्वारा ही हो सकती है। इसी प्रकार की भक्ति के भावों के उद्रेक द्वारा ही सूर की रचनाओं मे अन्य भक्त महाकवियों से उत्कृष्टता आ सकी है और जो भावों का स्फुरण सूर द्वारा हो सका है, वह किसी से नही हो सका। इसी व्यञ्जना ने किसी भावुक को अंततः यह कहने के लिए बाध्य कर ही दिया कि 'सूर सूर तुलसी शशी।'

इसमें संदेह नहीं कि भक्ति महारानी अन्तःासन पर विराजमान रहती है, किन्तु उनके दो प्रमुख सहचर और भी है, जिनसे ही वे 'वे' हैं, जिनसे ही उनकी शोभा और गौरव है। वे सहचर विनय और दैन्य-प्रदर्शन है, जिनकी शक्ति पर उन्हें पूर्ण विश्वास है, जिनके कारण ही वे सिंहासनासीन है और निर्भय होकर रह सकती हैं।

विनय ही वास्तव मे एक भक्त के लिए आदर्श भक्ति है। दीनता-प्रकाशन ही उसकी पूजा-अर्चना की सामग्री का थाल है। उस दीन के पास मान-अपमान के अतिरिक्त त्याग करने की और वस्तु ही क्या है? अपने इष्टदेव के समक्ष अपने सम्बन्ध की दृढ़ भावना ही उस दीन का, निर्धन का धन है। विनय ही मन के मैल के निष्कासन के लिए सन-लाइट-सोप है। विनय से ही, विनीत भाव से ही, नम्रीभूत होकर ही भक्त भगवान पर विजय प्राप्त कर सकता है। उस परमात्मा पर भी विजय

प्राप्त करने का यही एकमात्र शस्त्र है, जिससे वह आदि-शक्ति, संसार-चक्र-चालक सर्वशक्तिमान् भी क्षण भर में वशीभूत हो जाता है।

विनय ही पापों के प्रक्षालन के लिए अलौकिक दिव्य पदार्थ है। विनय ही पश्चात्ताप की पंचाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए पावन पंखा है, जिसके पवन से बड़े-बड़े पाप-पुञ्जों के पर्दे भी छिन्न-विछिन्न हो जाते है। इसी विनय मे निमग्न हो प्रज्ञाचक्षु सूर दिव्य चक्षु प्राप्त कर उस रस-धारा को प्रवाहित करता है, जिसके मधुर सुस्वादु अमृत-जल का पान कर हृदय कभी तृप्त ही नही होता। इसी के वश हो कही वह 'पंगु' से गिरियो का उल्लंघन करवाता है, कही वह 'अंधरे' से सब कुछ दिखवा लेता है; कही वह रंक के सिर पर छत्र तनवाता है; कही भगवान् से अपनी ढिठाई क्षमा करवा लेता है। कभी वह 'माया-नटनी' के प्रपंच से अपने को निकलवाने की चेष्टा करता है। कभी वह अपने 'काम-क्रोध' के 'चोलना' को नष्ट करने की प्रार्थना करता है। वास्तव में विनय ही भक्ति का सच्चा सहचर है। विनय बिना भक्ति कैसी और भक्ति बिना विनय की सुन्दरता कैसी? दोनो का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

विनय के सम्बन्ध मे विरोधाभास एवं विभावना का यह उत्कृष्ट तथा बहुविश्रुत उदाहरण द्रष्टव्य है। इसमे भगवान् की महिमा की पराकाष्ठा कर दी है। यदि भगवान् मे इन गुणों का आरोप नही किया जाय, तो इस संसार-सागर से, जिसे मानव अल्प शक्ति से ही तैरना चाहता है, कैसे तैरकर पार पहुँच सकता है? विराट विश्व मे वह एक तृण के समान ही तो है। उसी सदृश वह इधर-उधर उतराता तो है ही। शक्तिहीन मानव पंगु, अंध, बधिर, रंक तो है ही। वह सोचता कुछ है, पर नियति कुछ और ही कर देती है। बड़े-बडे धर्मशास्त्र और महात्मा भी उसकी अंध आत्मा को दिव्य चक्षु—ऐसे दिव्य चक्षु, जो

आत्मा-सदृश हों, अनाशवान् हों, अमर हों—चिरकाल तक न टै सके। बीसवीं शताब्दी के विद्वानों से युक्त मानव भी तो आज रो रहा है। उसकी आत्मा व्याकुल है, अवहेलित है। इसी अहंकारी युग में तो मानव-'शव' का श्रृंगार और मानव-आत्मा का 'कुत्सित चित्रांकण' किया जा रहा है। ऐसी भीषण परिस्थिति में उसका स्वामी करुणामय न हो, 'पंगु' से गिरि न लंघवा सके, 'अंधरं' से सब दिखवा न सके, 'मूक' से बुलवा न सके और 'रंक' के सिर छत्र न तनवा सके, तो निरीह, असहाय मानव किसकी शरण में जाय? इसी लिए तो सूर ऐसे स्वामी के चरणों की वन्दना करते हैं—

"जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कछु दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।"

रंक धर्म-प्राण भारत भी तो आज ऐसे ही परमात्मा की सेवा में लग्न होने की चेष्टा करना चाहता है। उसके रोम-रोम में नस-नस में यही भावना तो काम कर रही है। (मानस में तुलसी भी तो इसी भारत का प्रतिनिधित्व करते नज़र आते हैं—"मूक होइ बाचालु, पंगु चढ़इ गिरिवर गहन।")

ऐसा बड़ा है सूर का वह जगन्नियंता। वह स्वामी। भला बताइये जिसका साहूकार ही राम-सा धनी हो, उसे किस बात की कमी होगी? ऐसे धनी 'साहुकार' को पा किसे आनन्द न होगा? इन्द्र कुबेर जिसके दास हों, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सदृश चारों पदार्थों का देना जिसके बायें हाथ का खेल हो, वह भला क्या नहीं दे सकता? उसके लिए सब सुलभ है। वह अपने भक्त की सुध क्यों नहीं लेगा?

मुझे थोड़ी-सी माया, सो भी उसी की कृपा से, मिल गई है, उसी पर इतराता फिरता हूँ। उस थोड़ी माया का न तो कोई

सदुपयोग करता हूँ। और न छोड़ ही सकता हूँ, जैसे भुजंग के सिर की बहुमूल्य मणि, जिसका वह कृपण न तो स्वयं ही कोई उपयोग करता है और न किसी को देता ही है। ऐसा ही तो अपने 'राम-धनी' के समक्ष मैं हूँ—

"कहा कमी जाके राम धनी।
मनसानाथ मनोरथ पूरण,
सुख-निधान जाको मौज धनी॥
अर्थ, धर्म अरु काम मोक्ष,
फल चार पदारथ देत छनी।
इन्द्र समान जाके सेवक है,
मो बपुरे की कहा गनी॥
कहा कृपण की माया कितनी,
करत फिरत अपनी-अपनी।
खाइ न सकै खरच नहिं जानै,
ज्यों भुजग सिर रहत मनी॥"

संसार में यह मायारूपी नटनी ही तो इस जीवात्मा को बन्दर की नाईं नाच नचाया करती है। नटनी जब बन्दर से कहती है, 'बेटा सलाम करो' तब बन्दर मियाँ भी हाथ उठाकर सलाम करते हैं। जब वह पेट दिखाने को कहती है, तो तुच्छ से तुच्छ के सामने भी उसे पेट दिखाने का स्वाँग करना ही पड़ता है—इच्छा से हो अथवा अनिच्छा से। माया नटनी भी तो यही स्वाँग जीवात्मा से करवाया करती है। नटनी बेचारी तो कुछ निर्दिष्ट स्वाँग ही भरवा पेट पाल लेती है; किन्तु उस माया नटनी का पेट बड़ा लम्बा-चौड़ा है। उसको नचवाने के लिए तो एक नहीं, दो नहीं, चौरासी लक्ष योनियों का द्वार खुला हुआ है। इन योनियों में ही भ्रमण करवा लेने से उसे संतोष

हो जाता हो, सो बात नहीं। प्रत्येक चक्कर के साथ उसने काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि के आवर्त भी रख दिये हैं, जिनके अधीन हो वह न्यायान्याय का ध्यान छोड़ मनमानी करने लगता है। काम उसे सद्वृत्तियों पर विजय प्राप्त नहीं करने देता। क्रोध उससे ऐसा विष-वमन करवाता रहता है, जिसके कारण वह स्वयं गलता रहता है। लोभ का चश्मा चढ़ाकर वह तुच्छ से तुच्छ को 'महादानी' समझने लगता है। माया अनेक मनोरथों पर उसे चढ़ा सदा असंतुष्ट और बेचैन रखती है। इस जादूगरनी से बचने का केवल एक उपाय है और वह है भगवत्कृपा। सूर उसी की तो याचना करते हैं—

"........ .. . .

माया नटनी लकुट कर लीन्हें कोटिक नाच नचावै।

.. ..

तुम सो कपट करावत प्रभु जू मेरी बुद्धि भ्रमावै॥
मन अभिलाप तरंगनि कर-कर मिथ्या निशा जगावै।
सोवत सपने में ज्यों सम्पति त्यों दिखाय बौरावै॥

....

ज्यों दूती पर वधू मोहिकै लै पर-पुरुष दिखावै॥

....

सूरदास प्रभु तुमरी कृपा बिनु को मो दुख बिसरावै।"

बड़ा विकट है इस माया का फंदा। सूर बार-बार उससे छूटना चाहते हैं और वह फिर-फिर उन्हें फंसा लेती है। सूर कहते हैं, "हे प्रभो, साधु संगति की ओर मेरी रुचि कभी जाती नहीं। दैवयशात या आपके अनुग्रह से यदि गई भी, तो माया तुरन्त ही अपना फंदा समेटना आरम्भ कर देती है और मैं उल्टा खिंचा चला आता हूँ। अपने मन को मैंने बहुत समझाया, बहुत यत्न किया, किन्तु यह आपसे

मुझे विलग ही रखती है। आपके दयारूपी जल से मै कई बार स्नान कर चुका, किन्तु अन्त मे गज-समान सिर पर धूल ही उड़ाई।"

पर इस माया का सबसे बडा प्रभाव पडता है मन पर। वही अपने साम्राज्य मे यत्र-तत्र भागा करता है। शरीरांगों से जैसा चाहता है, काम लेता है। मन की गति ठीक श्वान-जैसी ही ठहरी न। सूर इस श्वान-मन से बड़े परेशान रहते है। उसे बहुत समझाते हैं, किन्तु वह अपना जातीय स्वभाव नही छोडता। 'मतिहीन' ही जो ठहरा—

"मेरो मन मतिहीन गुसाईं।
सुखनिधि ये पदकमल छाँडि, श्रम करत श्वान की नाईं॥"

मन के ऐसे झकोरों के मध्य केवल एक भगवान् ही अवलंब है, सत्य है। किन्तु सूर कहते है, उससे परिचय कैसे हो? उसकी 'अविगत गति' मेरी बुद्धि से परे है। उसके अनुग्रह का सागर बडा गहन है। उसके दया के किनारों का पार ही नही मिलता, उसके कार्य दृष्टिगम्य नही। मैंने सुना है, वह अद्भुत अलौकिक कार्य किया करता है। उसकी लीला की तो यह बात है कि, "बिन आशा बिन उद्यम् कीने अजगर उदर भरै।" और दूसरी ओर, "अति प्रचण्ड पौरुष बल पाये केहरि भूख मरै।" ऐसे अनोखे के निकट मै तुच्छ कैसे पहुँच सकता हूँ। फिर यही बात हो सो नही। वह तो, "रीतै भरै-भरै पुनि ढोरै, चाहे फेरि भरै।" उसकी महिमा तो यह है कि, "गागर तै सागर करि राखै चहुँदिशि नीर भरै।" और उसी के प्रभाव से, "पाहन बीच कमल विकसाही, जल मे अगिनि जरै।" ऐसा अद्भुत और अलौकिक है सूर का वह 'प्रभु'। इसी लिए सूर कभी-कभी दुबिधा मे पड़ जाते है, किन्तु उनको उस 'प्रभु' की इस 'बानी' का पूरा भरोसा है कि, "पतित तरि जाइ तनक में जो प्रभु नेकु ढरै।" इसी बल-विश्वास पर तो सूर

उस अगम्य और अलौकिक के पास तक पहुंचने का साहस करते हैं।

किन्तु सूर, वह नेत्रहीन सूर जब उसके निकट पहुंच गया, उसने उसके दर्शन अन्तश्चक्षुओं से एक बार कर लिये, फिर क्या वह वहाँ से हटनेवाला है? अब चाहे मारो, चाहे तारो, वह तो उनके द्वार पर आ ही पड़ा है और याचना करता है—

"अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु नाहिनै रुचि आन॥"

सूर जैसे बालक हों और कोई उन्हें भुलावा दे रहा हो। सूर कहते हैं, अब मैं बालक नहीं रहा कि अन्य देवा-देवताओं के भुलावे में आ जाऊं। आपका स्मरण करते-करते अब मुझमें भी कुछ समझ आ गई है। मैं कुछ बड़ा हो गया हूं। इसलिये—

"नाहिनै काचौ कृपानिधि कहौ कहा रिसाइ।
सूर तबहु न द्वार छाँड़ै डारिहौ कढ़राइ॥"

फिर एक बात का जो विश्वास मुझ बालक में है और जो प्रत्येक में अपने माता-पिता के प्रति रहता है कि आप बाह्य रूप से कितने ही कठोर क्यों न प्रतीत होते होओ, पर आपका अन्तर तो बड़ा मुलायम है (प्रत्येक बालक चाहे कहे नहीं, पर परोक्ष रूप से उसके हृदय में इसका विश्वास तो रहता ही है)। तभी तो तुम्हारा हृदय शीघ्र ही पसीज जाता है और तुम 'साँवरे के साथी' बन जाते हो। तुमने ही तो—

"सुनत पुकार परम आतुर ह्वै दौरि छुड़ायो ग्राह।"

इस 'दृढ़ प्रतीति' के पाले सूर को कई साधु-सन्तों ने सम-

झाया था कि निर्गुण परमात्मा की भक्ति कर। वे उसके पीछे कुछ सीमा तक गये भी। जितना हो सका, उन्होंने उसे प्राप्त करने के लिए किया, किन्तु दर्शन नहीं मिले। वह उनकी आत्मा मे घुला-मिला ही नहीं। इसी लिए सूर सगुण उपासना की ओर अग्रसर हुए, जैसा वे कहते है—

"आपुने ज्ञान मैं बहुत करी।
कौन भगति हरि कृपा तुम्हारी सो स्वामी समुझी न परी॥
दूरि गयो दर्शन के ताईं व्यापक प्रभुता सब बिसरी।
मनसा वाचा कर्म अगोचर सो मूरत नहि नैन धरी॥'

किन्तु प्रश्न यह है कि सगुण परमात्मा से मिलने की सूर को इतनी उत्कट अभिलाषा, इतनी व्याकुलता क्यों हुई ? इसका कारण है। मानव कितना ही आत्मिक रूप से निखरे, कितना ही निष्कलंक रहना चाहे, किन्तु इस संसार की काजल-वलित कोठरी मे से, "कैसे हु सयानो जाय काजर की एक रेख, लागि है पै लागि है" (सेनापति)। यही 'एक रेख' जब आत्मा निखरने लगती है, निष्पाप होने लगती है, तब उस व्यक्ति को महान् दोप-सी दिखाई देने लगती है। उस समय संसार की दृष्टि मे जो एक साधारण बात रहती है, वही उसे बडी और बढ़ी हुई प्रतीत होती है, जैसे डाक्टर को रोगो के कीटाणु, जिन पर साधारण जन कुछ ध्यान ही नहीं देते और उसके शिकार होते रहते हैं। इसी लिए सूर-सी निष्कलुष-पथगामी आत्मा कहती है—

"कौन गति करि हौ मेरी नाथ।
हौ तौ कुटिल कुचील कुदरसन रहत विपय के साथ।'

यही नही, अन्य अनेक अपराध भी मैंने किये है। इस जन्म के कम ही सही, किन्तु मै तो अनन्त जन्म धारण कर चुका हूँ। इसी-

लिए तो सूर की अभिनव की उस आत्मा मे इस जीवन के पश्चात् की गति के लिए छटपटाहट है। छटपटाहट है अवश्य, किन्तु सूर को अपने 'प्रभु' की 'दृढ प्रतीति' भी तो है' "सूर पतित जब सुन्यो बिरद तब धीरज मन आयो।'

इसी 'बिरद' का आश्रय पा सूर उस 'अगम्य' तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं। सूर अपने को एक साधारण पतित समझते हों, यह बात नहीं है।

"पतितन मे बिख्यात पतित हौं, पावन नाम तिहारौ!"

ऐसे पतित अपने को समझते थे सूर। किन्तु भगवान् के 'बिरद' ने ही उन्हें इतना उत्साहित कर दिया कि वे उनके मुँह लगे मित्र हो गये हों जैसे। सूर-सा अक्खड कवि जब भगवान् के सिंहासन पर बैठ जाता है, तब तो उसके विशाल अत्युच्च हृदय-गिरि से जो भाव-स्रोत प्रवाहित होता है, वह अप्रतिम है, अनिर्वचनीय है। सखा बनकर ही तो वे भगवान् के निर्मल हृदय का अपने हृदय से सामञ्जस्य कर सके हैं। वह निर्झरिणी बहा सके हैं, जो भाव-विभोर किये बिना नहीं रहती।

सूर कहते हैं, अनेक पतितों को तारकर यदि आपको गर्व हो गया हो, तो आप उस अभिमान को त्याग दीजिये। यदि आप में सद्गुणों की कमी नहीं है, तो मुझमें भी दुर्गुणों का पार नहीं है। मैं आपको सीधे नहीं छोड़नेवाला हूँ। आज तो फिर मैं प्रतिज्ञा करके आपके द्वार पर आ डटा हूँ महाराज, अभी तक तो मैं अपनी बान पर—अपनी तुच्छता पर नहीं आया था। इसलिए अनुनय-विनय से अपनी कार्यसिद्धि करना चाहता था। मैं महापतित ही नहीं हूँ, नामवरी पापी हूँ। मुझ-सदृश पापी का यदि आपने उद्धार नहीं किया, तो अनेक

पतितों के तारने के 'यश' पर मै पानी फेर दूँगा। मैं नीच जगह-जगह डौंडी पीटता फिरूँगा कि इन्होंने 'पतितपावन', 'दीनानाथ', 'अशरण-शरण', 'जगदाधार' के बाने तो धारण कर लिये है, किन्तु मुझे ये भी नही तार सके। इसलिए सीधे-सीधे आपसे कहता हूँ कि एक बार कह दो, 'सूर मेरा है'। और यह मै कहलवाकर ही रहूँगा, क्योकि आज तो, "हौ पायो हरि-हीरा।" मेरी प्रतिज्ञा है—

'बॉह छुडाये जात हौ निबल जानि कै मोंहि;
हिरदै से जब जाइयो, मरद बदूँगो तोहि।"

मित्र ही तो ठहरा। प्रतिज्ञा ही नही की है, मरने-मारने को, लडने-झगडने कौ तैयार बैठा है। स्नेहातिरेक के अतिरिक्त इसे और क्या कहें? कितना ओज और दृढ प्रतिज्ञा है। सूर झुँझला उठते हैं—

"आज हौ एक-एक करि टरि हौं।
कै हमही कै तुमही माधव, अपुन भरोसे लरिहौं।
.. ..
अब हौ उघरि नचन चाहत हौ तुम्है बिरद बिनु करिहौ॥"

यह नंगापन नही, हृदय का मधुर भार है, हृदय की तिलमिलाहट है, हलकापन है। ऐसे उद्गार तो उस 'प्रभु' का अनन्य, एक-रस भक्त ही प्रकट कर सकता है। दूसरे का इतना साहस नहीं हो सकता। तुलसी ने भी तो यही प्रतिज्ञा की थी—"प्रन करिहौ हठि आजु मैं राम द्वार परयौ हौं। तू मेरो यह बिन कहे उठिहौ न जनम भरि, प्रभु की सौं करि निबरयो हौ।"

भक्त हृदय से और चाहता ही क्या है सिवा इसके कि उसका इष्टदेव उस पर कृपा करता रहे। यह अवश्य है कि वह अपने स्वामी पर

कभी खीझता है तो कभी रीझता भी है। पर अपना सर्वस्व तो वह 'कृष्णार्पणमस्तु' ही कर देता है। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'। इसी-लिए सूर भी रीझ-खीझकर अन्त में कह ही उठते हैं—

"जैसे राखहु तैसेहि रहौं।
जानत दुख-सुख सब जन के तुम मुख करि कहा कहौं।"

और भी—

"तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूटि गये कैसे जन जीवत ज्यों पानी बिन प्रान।"
"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पर आवै।'

यहाँ एक बात विचारणीय है। यदि भक्त ही भक्त विनय करता जाय और सर्वेश्वर यदि उसकी विनय पर ध्यान न देवें, तो इस विराट् विश्व में मानव की संसारी आत्मा की क्या गति हो? वह शीघ्र ही थककर निश्चेष्ट हो जाय। एक शायर ने कहा है—"अगर हम ही हम तड़पे तो क्या तड़पे। तुम भी तड़पो तो मज़ा उट्ठे मुहब्बत का।" इसलिए भक्त कवि भगवान् के उस रूप का भी कथन करते आये हैं, जहाँ वह 'अपने जन' को—मानव को—प्रोत्साहित करते हैं, भक्त-वत्सलता प्रकट करते हैं। गीता की रचना ही इसी महोद्देश्य को लेकर हुई है। वह किसी-न-किसी रूप में मानवात्मा को निश्चेष्ट, निष्क्रिय होने से बचाते हैं। सूर भक्ति के इस अंग को भी अछूता नहीं छोड़ते। उनसे यह छूट ही नहीं सकता था; क्योंकि वे तो भक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए पुरुष थे। सूर के इन पदों से कौन भक्त रसिक एवं प्राचीन काव्य-प्रेमी अपरिचित है?

"हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुन अर्जुन परतिग्या मेरी यह व्रत टरत न टारे।"

यही नहीं—

'मेरी परतिग्या रहै कि जाइ।"

अन्त में अपनी भक्ति का सारा रस वे निम्नलिखित पद में बड़ी खूबी के साथ पाश्चात्य साहित्य के सामने कंगाल कही जानेवाली हिन्दी को दे गये हैं, जिससे जब भी वह विश्व के कानों तक पहुँचेगी, अपना मस्तक ऊँचा उठा सकेगी। केवल अँगरेज़ी भाषा के प्रवाह के कारण उसके साधारण से भी साधारण भावों को ऊँचा समझनेवाले प्रशंसक देखें कि कितना ज्ञेय, सारगर्भित, कितना भावपूर्ण एवं मर्म-स्पर्शी यह पद है। चित-चकई को सम्बोधित कर वे कहते हैं, हे चकई, उस देश को चल, जहाँ कभी अपने प्रिय का वियोग ही नहीं होता, जहाँ कभी रात्रि ही नहीं होती। जब रात्रि ही नहीं, तो चक्रवाक पति-पत्नी की पृथक्ता कैसी? और पृथक्ता के अभाव में वियोग कैसा? सूर का यह पद है—

"चकई री, चल चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम-वियोग।
जहँ भ्रम-निशा होत नहि कबहूँ, वह सायर सुख जोग।
जहाँ सनक से मीन-हंस शिव मुनी जन नख रवि प्रभा प्रकास।
प्रफुल्लित कमल निमिप नहिं शशि डर गूँजत निगम सुवास।
जिहि सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल सुकृत अमृत पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम यहाँ कहा रहि कीजै।
लक्ष्मी सहित होत नित क्रीड़ा सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय रस छीलर वा समुद्र की आस।"

तुलसी के बाद यदि किसी महाकवि को स्थान दिया जा

सकते हैं तो वे सूर ही हैं, वास्तव में सूर हिन्दी-साहित्य के एक जगमगाते रत्न हैं जिनका अमिट प्रभाव है। प्रारंभ से ही "सूर सूर, तुलसी ससी" वाली उक्ति उनके विषय में प्रचलित है। सूर का सम्मान भी कम नहीं हैं और जिस दिन तुलसी और सूर अन्य भारतीय भाषा-भाषियों के समक्ष नहीं, संसार के समक्ष आयेंगे, तब इनका स्थान आज से कहीं उच्च होगा। इनका लोहा एक की सर्वतोमुखी प्रतिभा का और दूसरे के कवित्व का, काव्य का लोहा संसार को नतमस्तक होकर मानना पड़ेगा। सूर का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर भी कम नहीं पड़ा है। इनकी पदशैली का अनुकरण गीतावली में लक्षित होता है, मीरा में देखने को मिलता है एवं अन्य तात्कालीन एवं परवर्ती कवियों में भी प्राप्त होता है; किन्तु सफलता से अनुकरण एक-दो ही कर सके हैं। इनके पश्चात्, उस समय सूर और तुलसी के भावों को लेकर कई क्षुद्र कवि राजदरबारों में कविराजों की उपाधि से विभूषित होते थे। वास्तव में कबीर, सूर और तुलसी इन विरल महात्माओं ने मिलकर हिन्दी-भाषा को उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जैसा आज तक कोई न कर सका। सूर का एक विपथगामी प्रभाव और पड़ा। वह था राधा-कृष्ण की भक्ति का। उनके काव्य में लोक-दृष्टि से कुछ अश्लीलता थी। वह थी साम्प्रदायिक प्रभाव के कारण। पर सूर वास्तव में सच्चे और सहृदय कवि थे। पर परवर्ती कवियों ने उनसे अच्छाई ग्रहण न कर अश्लीलता ही ली और कृष्ण और राधा को नायक-नायिका मानकर कितने ही गंदे काव्यों का ढेर लगा दिया। एक महात्मा के काव्य का भी कितना गहरा कुअसर पड़ता है! इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उच्च चरित्रवाले साहित्यज्ञों की रचना का भी यदि उसमें रंच-मात्र भी कुरुचि हो तो भी नवयुवकों और समाज पर बुरा असर पड़े बिना नहीं रहता।

> सूर-साहित्य का हिंदी में स्थान और प्रभाव

अन्तिम निवेदन-स्वरूप मैं यह कहना चाहता हूँ कि समालोचनात्मक ढंग से सूर का जो परिचय मैंने दिया है, वह अत्यल्प है। सूर-साहित्य में अनेक रत्न पड़े हैं जिनके निकालने की आवश्यकता है। सूर साहित्य की अभी विशद व्याख्या होने की अत्यंत आवश्यकता है। और तभी हम सूर का सच्चा मूल्य आँक सकेंगे। अभी तक हम केवल बाह्य रूप मे यह कहते आये हैं कि सूर एक उत्कृष्ट कवि है, नवरत्नों मे उनका दूसरा नंबर है। तुलसी के बाद सूर का स्थान है। सूर का गुण-गान भी बहुत किया गया, पर सूर की विशेषताओं पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है। सूर पर जिस समय खोज आरंभ होगी, सूरसागर जिस समय मथा जायगा सूर का संसार के महाकवियों मे अत्युच्च स्थान होगा।

अंतिम निवेदन